आत्मन्! आत्मनि तिष्ठतु

प्रस्तुत 'निदान का स्वरूप' कृति की विशेषताएँ

1. निदान के संपूर्ण स्वरूप को बताने वाली यह प्रथम कृति है।
2. प्रस्तुत कृति में निदान क्या है? 'निदान' शब्द का अर्थ, परिभाषा, भेद-प्रभेद, फल, पुराण-ग्रंथों के कथानक, इससे होने वाली हानियाँ व इसके स्वरूप को जानने से लाभ इत्यादि विषयों का विशद एवं विस्तृत वर्णन किया गया है।
3. विषय को पढ़ते समय जो जिज्ञासाएँ मन में उत्पन्न होती हैं, लेखक द्वारा स्वयं ही प्रश्नोत्तरों के माध्यम से उनका तर्कपूर्ण एवं आगम सम्मत समाधान प्रस्तुत किया गया है।
4. अनेक स्थानों पर एक ही विषय के संबंध में आचार्यों के विभिन्न कथन प्राप्त होते हैं, वहाँ उन सभी कथनों का तर्क-युक्ति सहित आगम सम्मत समन्वय स्थापित किया गया है।
5. प्रत्येक प्रकरण के अंत में निष्कर्ष व तात्पर्य भी दिया गया है, जिससे संपूर्ण प्रकरण सरलता से समझ में आ जाता है।
6. प्रत्येक विषय को अनेक आगम प्रमाणों के साथ स्पष्ट किया गया है, जिससे प्रामाणिकता संबंधी संदेह दूर हो जाता है; इसीलिए प्रस्तुत कृति का नाम भी **'आगम के आलोक में... निदान का स्वरूप'** रखा गया है।
7. विस्तार की अपेक्षा रखने वाले विषयांतर विषय को परिशिष्ट में दिया गया है।

इसप्रकार उक्त विशेषताओं सहित यह कृति है। निदान का सर्वांगीण स्वरूप जानने के लिए इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें।

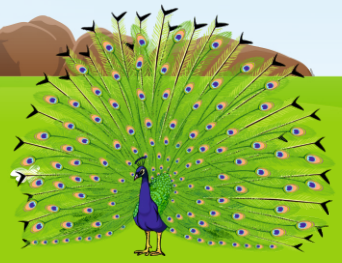

आगम के आलोक में... निदान का स्वरूप

– पण्डित अमन जैन शास्त्री

आगम के आलोक में...

निदान का स्वरूप

काश! मैं भी मोर जैसा सुंदर होता...

निदान

निदान का फल

– पण्डित अमन जैन शास्त्री

आगम के आलोक में...

निदान का स्वरूप

लेखक :

पण्डित अमन जैन शास्त्री, लोनी

शास्त्री, शिक्षाशास्त्री

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

निदान का स्वरूप : **पण्डित अमन जैन शास्त्री**

प्रथम संस्करण : **1000**
(दिनांक 22 दिसम्बर 2022)
श्री शीतलनाथ भगवान का ज्ञान कल्याणक

मूल्य : **25 रुपये**

ISBN 978-93-91136-30-7

प्राप्ति स्थल : पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015
फोन : 0141-2707458, 2705581

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची	
1) पण्डित जिनकुमारजी शास्त्री, जयपुर (उपप्राचार्य)	1111/-
2) श्रीमती अनुभूति-अनुभव जैन शास्त्री, झालावाड़	1111/-
3) श्रीमती प्रतीक्षा-अकलंक जैन, लोनी	1111/-
4) श्री देवांश शास्त्री पुत्रश्री देवपाल सेठ, अमरमऊ	1111/-
5) पण्डित हर्ष, अनिकेत शास्त्री, फुटेरा	1100/-
6) श्रीमती तरुणा-सचिन जैन, दिल्ली	1000/-
7) पण्डित अविरल शास्त्री, खनियाँधाना	500/-
8) पण्डित तंदुल शास्त्री, दिल्ली	500/-
कुल योग :	**7,544/-**

लेखक की अन्य महत्त्वपूर्ण कृति
'समवशरण रचना वर्णन'
एक बार अवश्य पढ़ें।

मुद्रक : देशना कंप्यूटर्स
आगरा रोड़, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

क्र. विषय	पृष्ठ
• प्रकाशकीय	4
• शुभाशीष - डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	5
• अपनी बात	7
• मंगलाचरण - समकित जैन शास्त्री, ईसागढ़	9
1. निदान का सामान्य स्वरूप	11
2. विभिन्न दृष्टिकोणों से 'निदान' शब्द का अर्थ	12
❊ शब्दकोश के अनुसार...	13
❊ शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार...	14
❊ दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार...	15
3. जिनागम में प्राप्त - 'निदान' शब्द	16
❊ शल्य के अंतर्गत निदान शब्द का प्रयोग	16
❊ ध्यान के अंतर्गत निदान शब्द का प्रयोग	22
4. निदान शल्य और निदान आर्त्तध्यान में अंतर	23
5. निदान बंध	25
6. निदान की परिभाषाएँ	28
❊ इच्छा	33
❊ अति-आसक्ति पूर्वक निरंतरता	36
❊ भौतिक सुख	40
❊ आगामी काल	44
7. निदान के भेद - प्रभेद	49
❊ मोक्ष का कारणभूत प्रशस्त निदान	50
❊ संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान	58
❊ कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान	69
❊ भोग का कारणभूत अप्रशस्त निदान	94
8. निदान बंध का फल	103
9. निदान से होने वाली हानियाँ	108
10. निदान के स्वरूप को जानने से लाभ	118
11. परिशिष्ट-1 (ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ)	120
12. संदर्भित ग्रन्थ	122
13. विद्वानों के अभिमत	125

प्रकाशकीय

सत्साहित्य का प्रकाशन पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की एक प्रमुख गतिविधि है और सरल वर्तमान भाषा में लिखित जनोपयोगी, रुचिकर और आत्मकल्याण में सहायक, प्रामाणिक साहित्य का प्रकाशन हमारा लक्ष्य है।

युवा विद्वान अमन शास्त्री की कृति '**निदान का स्वरूप**' का प्रकाशन इसी शृंखला की एक कड़ी है।

समाज में ऐसे लोग कम ही हैं, जिन्होंने निदान बंध का नाम भी सुना है, जो इसका मतलब समझते हैं और यह जानते हैं कि निदान एक आर्त्तध्यान का भेद है, बंध का कारण है, हमारे हित के विरुद्ध है और मुक्तिमार्ग में बाधक है।

अन्य दर्शनों में तो इसप्रकार के परिणामों (निदान संबंधी) को अच्छा और उपादेय माना जाता है, सभी लोग अपने इष्टदेव के सामने अपनी इक्षाएँ प्रकट कर उन्हें पूरी करने की प्रार्थना करते हैं, मन्नतें मांगते हैं। इसी को उनकी आस्तिकता (धार्मिक होना) माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि आकांक्षाएँ मात्र बंध का कारण हैं, हेय हैं। यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य है।

विद्वान लेखक ने समग्रता के साथ निदान के शब्दार्थ, उसकी व्युत्पत्ति, निदान शब्द का लोक में प्रचलित अर्थ और जिनागम के परिप्रेक्ष्य में उसके विशिष्ट अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए यथासंभव आगम में उपलब्ध सभी कथनों को उद्धृत किया है।

पूज्य दादा डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल द्वारा इस कृति का श्रवण और इसके प्रकाशन की स्वीकृति प्रदान करना इस कृति की उपयोगिता का सूचक है।

डॉ. शान्तिकुमारजी पाटील द्वारा इसका अवलोकन, मुद्रण और प्रकाशन में डॉ. अखिल बंसल के और टंकण में अखिल जैन शास्त्री के योगदान के लिए हम उनको धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

शोधपरक शैली में रचित यह रचना निश्चित ही हम सभी को निदान का स्वरूप समझाने में सहायक होगी और हम सभी आत्मार्थियों का मार्गदर्शन करेगी।

22 नवम्बर 2022

परमात्म प्रकाश भारिल्ल
कार्यकारी महामंत्री
पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर

शुभाशीष

'निदान' यह एक ऐसा शब्द है, जिसे सुनते ही अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ होती हैं कि निदान क्या है? निदान बंध कैसे होता है? हमें भी होता है क्या? अथवा निदान बंध करने से नुकसान है या फायदा? न जाने निदान के संबंध में ऐसे कितने प्रश्न उत्पन्न होते हैं। कई बार तो निदान का वास्तविक स्वरूप नहीं समझपाने के कारण अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ भी उत्पन्न होती रहती हैं।

'**निदान**' वास्तव में तो 'आगामी काल में भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अति आसक्त होना है।' इसप्रकार की अनेक चर्चायें तर्क-युक्तियों व आगमाधार से लिखी गई इस कृति में पढ़ने को मिलेंगी।

यद्यपि जिनागम में प्रसंगानुसार यथास्थान निदान का स्वरूप प्राप्त होता है; परन्तु अभी तक ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई, जिसे पढ़कर पाठकों को निदान का स्वरूप पूरी तरह से स्पष्ट हो जाए।

चि. अमन जैन शास्त्री, लोनी ने '**निदान का स्वरूप**' नामक कृति प्रस्तुत कर उस कमी की पूर्ति की है।

यह एक प्रामाणिक रचना है। इसे हमारे महाविद्यालय के अधीक्षक अमन जैन ने बहुत ही श्रम से तैयार किया है। मैंने इस कृति की विषय-वस्तु को इस कृति के लेखक अमन जैन के मुख से ही शब्दशः सुना है तथा यथास्थान अपेक्षित सुधार भी कराए हैं। ये करणानुयोग के रुचिवंत विद्वान हैं, इनके द्वारा पूर्व में लिखी गई 'समवशरण रचना वर्णन' नामक पुस्तक भी मैंने पढ़ी है।

निदान का स्वरूप जानने की जिज्ञासा रखने वाले धर्मप्रेमी भाई-बहनों को इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

20 सितम्बर 2022

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
महामंत्री

पुरोवाक्

सामान्य तौर पर निदान शब्द का प्रयोग रोग के निदान (उपाय) के अर्थ में किया जाता है; लेकिन जिनागम में इस शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से निदान शल्य, निदान आर्त्तध्यान व निदान बंध के रूप में अनेक स्थानों पर किया गया है। अनेक स्थानों पर विषयांतर के रूप में निदान का विषय पढ़ने को मिलता है, जिसे पढ़ते समय सहज ही अनेक जिज्ञासाएँ चित्त में बनी रहती है, साथ ही उस विषय संबंधी भी विस्तृत विवेचना वहाँ प्राप्त नहीं होती है। ऐसी स्थिति में आगम का आलोड़न कर इन सभी का सांगोपांग, आगम-प्रमाण, तर्क-युक्ति व दृष्टांत सहित विस्तृत विवेचन करने का प्रशंसनीय कार्य प्रिय अमन शास्त्री ने किया है - इसका मुझे बहुत ही हर्ष है।

निदान से संबंधित सम्पूर्ण विषयों को इस पुस्तक में इसप्रकार से प्रस्तुत किया गया है, जिससे स्वाध्यायियों की तत्संबंधी समस्त जिज्ञासाओं का सहज ही समाधान हो जाता है। इस विषय संबंधी जिज्ञासा के समाधान हेतु एकमेव यह कृति ही पर्याप्त है।

अल्पवय में गहन अध्ययन कर विशिष्ट विषय को व्यवस्थित पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करना, विशिष्ट प्रतिभा के बिना संभव नहीं है। इससे पूर्व भी समवशरण संबंधी ऐसा ही सफल प्रयास आपने किया है। इसीप्रकार जिनवाणी के अध्ययन-मनन-चिंतन में संलग्न रहकर ऐसे ही अपरिचित विषयों को साधर्मियों से परिचित कराते रहें - यही मेरी हार्दिक शुभकामना है।

25 सितम्बर 2022

डॉ. शान्तिकुमार पाटील
प्राचार्य
श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय, जयपुर

अपनी बात

दशलक्षण पर्व के समय 2018 में सिरोंज जाना हुआ था। वहाँ तारण समाज में प्रवचन करने के उपरांत एक दादीजी ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा ''काश! हम भी पुरुष होते... तो भगवान के प्रक्षाल करने का महा-सौभाग्य प्राप्त हो जाता।'' तब सहसा ही मैंने कहा - ''ऐसी भावना नहीं भानी चाहिए; क्योंकि वर्तमान में ऐसे अनेक पुरुष हैं, जो किसी कारणवश बिना मन के जबरदस्ती भगवान का प्रक्षाल करते हैं। कदाचित् उन्होंने भी पूर्व में ऐसी ही भावना भाई होगी, जिसके फल स्वरूप उन्हें आज ऐसे संयोग तो मिले हैं; परंतु वर्तमान परिणामों के अभाव में जबरन् काम करके दु:खी ही होना पड़ रहा है।''

मैंने इस प्रसंग के पूर्व कभी निदान का वर्णन नहीं पढ़ा था, मात्र निदान शब्द सुना था; तथापि पूर्वाभ्यास के बल से ऐसे विचार व्यक्त हो गए।

जब शास्त्री का अध्ययन पूर्ण हुआ। तब भगवती आराधना का स्वाध्याय करना प्रारंभ किया। जिसमें अनेक स्थानों पर निदान के संबंध में विषय-वस्तु प्राप्त हुई। साथ ही निदान का स्वरूप भी थोड़ा-सा स्पष्ट होने लगा था। इसी के आधार से मैंने दीपावली के अवकाश के समय पंडित टोडरमल स्मारक भवन में इसी विषय के ऊपर प्रवचन किए। तब यहाँ आ. बा. ब्र. कल्पना दीदी भी उपस्थित थीं। प्रवचन के उपरांत उनसे चर्चा होती थी, जिसमें वे कुछ गलतियाँ व कुछ नवीन प्रमेयों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया करती थीं।

कालांतर में कोविड-19 के चलते लॉकडाउन लग गया। जिसमें मूलाचार ग्रंथ का विशेष अध्ययन हुआ। इसमें भी कुछ स्थानों पर निदान का वर्णन पढ़ने को मिला। इसप्रकार अनेक ग्रन्थों के माध्यम

से निदान का लगभग सम्पूर्ण स्वरूप मेरे चित्त में स्पष्ट हो चुका था। जिसे मैंने और भी अधिक व्यवस्थित करने के लिए लिखने का विचार बनाया। लिखते समय भाई स्वानुभव जैन, खनियाँधाना और चर्चित भैया, खनियाँधाना से भी चर्चा-वार्ता होती रहती थी। जिससे यह विषय और भी अधिक खुलकर सामने आया है।

निदान का संपूर्ण वर्णन लिखने के पश्चात आ. छोटे दादाजी (डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल) को सम्पूर्ण लेखन शब्दश: सुनाया। तब आ. छोटे दादाजी ने मेरा ध्यान कुछ विशेष बिंदुओं की ओर भी आकर्षित करवया। साथ ही उन्होंने मेरा उत्साहवर्धन करते हुए कहा -''सम्पूर्ण वर्णन को एक ही स्थान पर व्यवस्थित करके बहुत अच्छा कार्य किया।''

विषय में किसी भी प्रकार की भूल या कमी न रह जाए। इसके लिए इस सम्पूर्ण वर्णन को आ. बा. ब्र. सुमतप्रकाशजी (खनियाँधाना), आ. बा. ब्र. कल्पना दीदी, डॉ. संजीवकुमारजी गोधा, डॉ. शान्तिकुमारजी पाटील, डॉ. अरुणजी बण्ड, डॉ. ज्योतिजी सेठी आदि विद्वानों ने पढ़कर शुद्ध किया है। आप सभी के सहयोग व निर्देशन में ही यह कार्य पूर्ण हो सका; अतः आप सभी को हृदयतल से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आ. परमात्मप्रकाशजी भारिल्ल का भी बहुत-बहुत आभार, जिन्होंने इस कृति को टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

अंत में '**को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे**' के अनुसार श्रुत-सेवा के इस स्वान्त: सुखाय कार्य में कोई अज्ञान-प्रमाद वश भूल रह गई हो तो सभी सुधी जनों से अनुरोध है कि इस ओर ध्यान आकर्षित कराएँ।

इस '**निदान का स्वरूप**' कृति का सभी जन अध्ययन कर विकल्प-जाल से छूटकर आत्मस्थ हों। **आत्मन्! आत्मनि तिष्ठतु।।**

25 सितम्बर 2022 **– पं. अमन जैन शास्त्री, लोनी**

मंगलाचरण

(दोहा)

इच्छा वांछा से रहित, हैं निशल्य जिनराज।
जान स्वरूप निदान का, हों निरीह[1] हम आज।।1।।

(कवित्त मनहर)

आशा तो है दु:ख दानी, इच्छा करे बहु हानी,
मोह में लिपट-कर जीव क्लेश पाय है।
शान्त नहीं चित्त होवे, चिंता के भरम रोवे,
ढेरन को पुण्य खोवे, माथा चकराय है।
भोग रोग के समान काहे न ये बात जान।
जे निदान भलो जान, हान ही कराय है।
ये भी चाहा, वो भी चाहा-कछु मिल पायो नाह,
स्व-पर सताये नर जीवन गवाय है।।2।।
कोई जन तन चाहे, कोई जन धन चाहे,
सबहिं के जीवन में मची हाय-हाय है।
पुण्य योग इष्ट भयो, पाप तैं अनिष्ट भयो,
कल-कल चाहत में आज को गवाय है।
प्रतिपल मारे चाँटा, जैसे - पीर[2] देत काँटा,
फिर भी उलझ तामैं काहे घबराय है।
हल कछु होत नाहिं, सोच! जब अंत आहिं,
निदान करत नर जीवन ढहाय है।।3।।

1. इच्छा से रहित 2. पीड़ा

भोग रोग सम जान, कष्ट पीर की खदान।
फिर सुख हेतु काहे तिनको सम्हार[3] है?
माँगन से नाहिं मिले, मन मरजी न चले,
मन को बने यदि, सो नैक-सी फुहार[4] है।
अब नहीं सह्यो जात, भव दु:ख झंझावात,
बस एक चाह साँचे सुख की पुकार है।
साँचो सुख पायो जिन, नम कर-दोउ तिन,
भये जो निरीह 'समकित' की जुहार[5] है।।4।।

(दोहा)

आत्मस्वभाव महान हो, नहीं निदान का काज।
भव्य जीव यह समझकर, पायें सिद्ध स्वराज।।5।।

भाग्य बिना कछु हाथ न आवै।

इन्द्र नरेन्द्र फणीन्द्रन के सुख, भोगन को नित जी ललचावै,
कंचन धाम करूँ बिसराम, सदा मम नाम तिहुँ जग छावै।
नूतन भोग शरीर निरोग, न इष्ट वियोग न रोग सतावै,
यों दिन रात विचार करै पर, भाग्य बिना कछु हाथ न आवै।।
मात पिता सुत नारि सहोदर, छोड़ि विदेश कमावन जावै,
काटत काठ पढ़ावत पाठ, लगावत हाट कपाट बनावै।
कृत्य कुकृत्य करै बनि भृत्य, दिखावत नृत्य बजाय रिझावै,
यों तृष्णावश मूढ़ फिरैं पर, भाग्य बिना कछु हाथ न आवै।।

– भव्य प्रमोद, पृ.30, माखनलालजी

3. सम्भालना 4. बूंद समान 5. नमस्कार

निदान का स्वरूप

जिनधर्म का आधार वस्तुस्वभाव, वीतरागता और सर्वज्ञता है। देव को आदर्श बनाकर शास्त्र की स्यात् पद मुद्रा के माध्यम से निर्ग्रन्थ गुरु सदैव ही वस्तु स्वरूप का आश्रय लेकर वीतरागता की वृद्धि करते हैं। मुनिराजों की यह सिद्धों सम अवस्था स्वाधीन, स्वतंत्र व सहज होती है। अभ्यंतर-बहिरंग से निरंतर समता रस झरता रहता है।

पूज्य मुनिवर निदान भावों का अभाव करके ही इस दशा को प्राप्त करते हैं। निदान का नाश किए बिना इस सहज दशा की प्राप्ति अशक्य है; क्योंकि जब तक चित्त में निदान भाव उत्पन्न होते रहेंगे, तब तक मुनिराज अपना उपयोग अपने में एकाग्र नहीं कर सकते हैं।

तन्मयता, एकाग्रता तो निदान में भी होती है: परंतु वह एकाग्रता पर पदार्थों में अति तीव्र आसक्ति पूर्वक होती है; अतः यह निदान अनंत संसार का कारण है।

जैसे किसी ग्राहक को कोई वस्तु अतिप्रिय है और वह उस वस्तु की प्राप्ति किसी भी कीमत पर करना चाहता है। ग्राहक की इस अतितीव्र अभिलिप्सा को देखकर दुकानदार उस वस्तु को लागत मूल्य से कई गुने अधिक मूल्य में देता है और आश्चर्य तो तब होता है, जब ग्राहक उस अल्प मूल्य वाली वस्तु को अधिक मूल्य देकर भी खरीदता है।

वैसे ही यह किसी वस्तु को अति आसक्ति पूर्वक चाहता है। हमारी इस अति आसक्ति को देखकर कर्मरूपी दुकानदार उस वस्तु (विषय-कषाय, भोग-संयोग) को लागत मूल्य से करोड़ों गुने अधिक

मूल्य में देता है अर्थात् यह निदान उन संयोगों को लागत पुण्य से कई गुने अधिक पुण्य में देता है।

इसप्रकार यह जीव निदान के कारण अपनी वास्तविक योग्यता को ही भूल जाता है। अपनी योग्यता को न पहचानता हुआ भिखारी बन जाता है और जहाँ-तहाँ भटकता-फिरता है।

निदान अर्थात् जो हमारे उपयोग को अपनी ओर पूर्णरूप से आकर्षित कर हमें शांति से नहीं बैठने दे। जैसे दाँत में फंसा हुआ भोजन का कण जिह्वा को प्रतिपल अपनी ओर आकर्षित करता है और जिह्वा को क्षण भर भी शांति से नहीं बैठने देता है। वैसा ही यह निदान है। यदि यह हमारे चित्त में उत्पन्न हो जाए तो हमारे उपयोग को प्रतिपल अपनी ओर आकर्षित करता रहेगा और क्षण भर भी शांति से नहीं बैठने देगा।

निदान करने से हमारा आत्मिक सुख नष्ट हो जाता है। आचार्य देव तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (9/33) में लिखते हैं कि 'जिससे आत्म-सुख नष्ट हो जाता है, वह निदान है।'

इसप्रकार यह निदान इस जीव की वास्तविक योग्यताओं को दबाकर दीन-हीन बनाकर ठगता है, लूटता है और जीव की स्वतंत्रता को छीनकर आत्म-सुख को नष्ट करता है।

पर...यह निदान है क्या? किस प्रकार के भाव निदान कहलाते हैं? तो आइए जानते हैं, यह निदान क्या है? 'निदान' शब्द का अर्थ, परिभाषा, भेद-प्रभेद, फल, इससे होने वाली हानियाँ और इसके स्वरूप को जानने से लाभ इत्यादि।

⁕ सर्वप्रथम विभिन्न दृष्टिकोणों से 'निदान' शब्द का अर्थ देखते हैं :-

1. शब्दकोश के अनुसार 'निदान' शब्द का अर्थ - **कारण।**

2. शब्द-व्युत्पत्ति के अनुसार 'निदान' शब्द का अर्थ -

निधत्ति और निकाचित्त रूप कर्मावस्था।

3. दार्शनिक दृष्टिकोण से 'निदान' शब्द का अर्थ - **इच्छा।**

1) शब्द कोश के अनुसार - निदान अर्थात् कारण, प्रधानकारण, हेतु। जैसे लोक में कहा जाता है कि रोग का निदान बताइए अर्थात् रोग का कारण बताइए। वैसे ही यहाँ कर्म बंधन के कारणों को निदान शब्द से कहा गया है।

इसी 'कारण' अर्थ को बताने के लिए पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में निदान शब्द का प्रयोग किया है। **'कर्म बंधन का निदान'**[1] नामक शीर्षक के अंतर्गत कर्म बंधन में क्या कारण हैं और क्या नहीं हैं? इत्यादि विषय का वर्णन किया है।

इस 'कारण' अर्थ को ही माधवकार कुछ अन्य शब्दों में इसप्रकार कहते हैं-

'निदानमाहुः पर्य्यायैः प्राग्रूपं येन लक्ष्यते।'[2] अर्थात् जिससे पर्यायों के माध्यम से पूर्व रूप का लक्ष्य किया जाता है, उसे निदान कहते हैं। (जो पर्यायों के माध्यम से पूर्व रूप का लक्ष्य होता है, उसे निदान कहते हैं।)

वर्तमान में पर्यायरूप कार्य को देखकर पूर्व में किए गए कारणों का लक्ष्य करना निदान है। जैसे - जगत जन कहते हैं कि पूर्व में ही ऐसे कुछ काम किए होंगे, जिनके फल में आज ऐसे संयोग मिले हैं। यहाँ हम वर्तमान पर्याय को देखकर पूर्व में किए हुए अच्छे-बुरे कार्यों का अनुमान लगाते हैं, जो वर्तमान पर्याय के होने में कारण हैं। इस अर्थ के अनुसार कर्म बंधन में जो भी कारण बनते हैं, वे सभी कारण निदान हैं।

आचार्य उमास्वामी देव तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र में बंध के हेतुओं को बताते हुए लिखते हैं कि-

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय-2, पृष्ठ-22 2. अमरकोश (संस्कृत-हिंदी शब्द कोश)

मिथ्यादर्शनाविरति–प्रमाद–कषाय–योगा बंधहेतवः।।1।।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग – ये बंध के 5 हेतु हैं। उपर्युक्त अर्थ के अनुसार ये सभी बंध के निदान (हेतु) हैं।

सारांश यह है कि बंध के अनेक कारणों को निदान शब्द से कहा जा सकता है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से बंध होता है अर्थात् मिथ्यात्वादि बंध के कारण हैं; इसलिए इसे ऐसा भी कह सकते है कि ये बंध के निदान (कारण) हैं। इसे ही संक्षेप में निदान बंध कह दिया जाता है।

2) शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार – (नि + दा + ल्युट् = निदान) निदान शब्द '**नि**' उपसर्ग पूर्वक '**दा**' धातु से '**ल्युट्**' प्रत्यय करके बना है। जिसका अर्थ होता है '**निश्चयं दीयते अनेन इति निदानम्**' अर्थात् जिसके द्वारा निश्चितरूप से दिया जाता है, उसे निदान कहते हैं।

यद्यपि इस व्युत्पत्ति के अनुसार जगत में निदान का अर्थ 'कारण' ही किया जाता है; क्योंकि कारण के मिलने पर कार्य निश्चित रूप से होता ही है; तथापि जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में निदान का अर्थ '**निधत्ति और निकाचितरूप कर्म अवस्था**'[1] भी किया जा सकता है; क्योंकि निधत्ति और निकाचितरूप[2] कर्मावस्था में संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण आदि की व्यवस्था नहीं होती है। ये अपना फल निश्चितरूप से देते ही देते हैं और जो निश्चितरूप से (फल) देता है, उसे ही **निदान** कहते हैं; इसलिए यहाँ निदान शब्द का दूसरा अर्थ निधत्ति और निकाचितरूप कर्म अवस्था किया है।

1. मूल आगम में यह अर्थ देखने में नहीं आया; परंतु विद्वत जन शब्द–व्यत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ करते हैं।
2. निधत्ति कर्मों में संक्रमण और उदीरणा नहीं होती है और निकाचित कर्मों में संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण नहीं होता है। – (गोम्मटसार कर्म., गाथा–440)

निधत्ति–निकाचित कोई कर्म प्रकृति नहीं हैं; अपितु ये तो कर्मों की अवस्थाएँ हैं, जो ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मों में होती हैं। इन कर्मों के अंतर्गत अघातिया कर्म में पुण्य (प्रशस्त) और पाप (अप्रशस्त) का भेद देखा जाता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि निधत्ति–निकाचित अवस्था वाले कर्म भी पुण्य–पाप – दोनों रूपों में हो सकते हैं; जैसे – उपचार से तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, देवादि गतियाँ इत्यादि पुण्य प्रकृतियाँ निधत्ति–निकाचित अवस्थारूप होती हैं और नरकादि गति इत्यादि पाप प्रकृतियाँ निधत्ति–निकाचित अवस्थारूप होती हैं।

जिसप्रकार निदान में निश्चितरूप से फल दिया जाता है; उसीप्रकार यहाँ उपचार से निधत्ति–निकाचित अवस्था वाली तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृतियाँ और नरकादि पाप प्रकृतियाँ निश्चितरूप से फल देती ही हैं; इसलिए यहाँ 'जो निश्चितरूप से फल देता है' – इस शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार निदान का अर्थ निधत्ति–निकाचितरूप कर्मावस्था किया है।

ध्यान रखने योग्य बात यह है कि यहाँ मात्र 'निदान' इस शब्द का विभिन्न दृष्टिकोणों से अर्थ बताया जा रहा है। आगे जब आगम में प्राप्त निदान का अर्थ, स्वरूप बताया जाएगा; वहाँ निदान के फल में तीर्थंकर पद की प्राप्ति नहीं हो सकती है; परंतु नारायण आदि पदों की प्राप्ति हो सकती है इत्यादि विशेष वर्णन किया जाएगा।

3) दार्शनिक अर्थ – आचार्य वसुनंदी स्वामी ने मूलाचार की टीका में निदान शब्द का अर्थ '**आकांक्षा**'[1] किया है। आकांक्षा अर्थात् इच्छा, चाह, आशा, अभिलाषा, तमन्ना इत्यादि।

1. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय–7, सूत्र–18

यद्यपि व्याकरण शास्त्र के अनुसार निदान शब्द का अर्थ आकांक्षा, इच्छा नहीं होता है; तथापि प्रत्येक दर्शन (मत) का एक पृथक् शब्दकोश होता है। जिसमें प्रचलित अर्थ के अतिरिक्त एक पृथक् अर्थ का प्रतिपादन भी किया जाता है। जैसे - लौकिक में 420 यह संख्या भी अन्य संख्याओं के समान ही है; परंतु संविधान की इक संहिता में 420 का प्रयोग धोखा-धड़ी के अर्थ में किया जाता है; वैसे ही जैनदर्शन में निदान शब्द का प्रयोग कारण के अतिरिक्त आकांक्षा, इच्छा के अर्थ में भी किया जाता है।

इसप्रकार निदान शब्द के तीन अर्थ हुए-

1) कारण

2) निधत्ति और निकाचितरूप कर्म अवस्था

3) इच्छा (आकांक्षा)

'निदान का स्वरूप' इस प्रकरण में निदान शब्द का मुख्य अर्थ इच्छा है। शेष दोनों अर्थ (कारण एवं निधत्ति-निकाचितरूप कर्म अवस्था) गौण हैं।

निदान शब्द का प्रयोग जिनागम में दो रूपों में मिलता है। पहला शल्य के रूप में और दूसरा ध्यान के रूप में।

1) शल्य के अंतर्गत निदान शब्द का प्रयोग :-

शल्य - 'शृणाति हिनस्तीति शल्यम्।'[1] अर्थात् जो कष्ट दे, वह शल्य है। पीड़ा देनेवाली वस्तु शल्य है। शरीर में काँटादि का चुभ जाना शल्य है; क्योंकि जैसे किसी व्यक्ति के पैर में काँटा चुभ जाए, तो उसका पूरा उपयोग काँटे की ओर चला जाता है और जब तक वह काँटा निकलता नहीं है, तब तक उसका उपयोग अन्यत्र लगता भी नहीं

1. मूलाचार टीका (आचारवृत्ति), गाथा-69

है; अपितु निरंतर आकुल-व्याकुल होता हुआ महाकष्ट को सहता है।

यहाँ उस काँटे के समान जो पीड़ाकर भाव है, उसे भाव शल्य कहा गया है। किसी के मन में शल्य उत्पन्न हो जाए, तो उसका पूरा उपयोग उस शल्य की ओर चला जाता है और जब तक वह शल्य निकलती नहीं है, तब तक उसका उपयोग अन्यत्र लगता भी नहीं है; अपितु निरंतर ही आकुल-व्याकुल होता हुआ महाकष्ट को सहता है।

जिसप्रकार काँटादि शल्य प्राणियों को कष्ट देने वाली होती है, उसीप्रकार शरीर और मन संबंधी बाधा का कारण होने से कर्मोदय जनित विकार में भी शल्य का उपचार कर उसे (कर्म को) भी (द्रव्य) शल्य कहते हैं।[1]

तात्पर्य यह है कि जो मन में काँटे के समान चुभे, निरंतर सतावे, तीर के समान घाव पैदा करे, दुःसह हो, मदनवृक्ष की छाया में पलते हुए जहर के समान कार्य करे व स्वयं पापरूप हो, उसे शल्य कहते हैं।

जिसप्रकार किसी व्यक्ति के दाँतों में भोजन का कण अटक जाए और जब तक वह कण नहीं निकले, तब तक उसकी जिह्वा निरंतर उसको निकालने का प्रयत्न करती रहती है और अंत में स्वयं ही छिन्न-भिन्न होकर महा-व्याकुल होती है।

इसीप्रकार किसी व्यक्ति के मन में मिथ्या, माया, निदानरूप शल्य अटक जाए या उत्पन्न हो जाए और जब तक वह शल्य नहीं निकले, तब तक उसका उपयोग शांति से नहीं बैठता; अपितु निरंतर ही उस शल्य को पूर्ण करने का अथवा निकालने का प्रयत्न करता रहता है और अंत में स्वयं ही अनेक कष्टों को सहता हुआ मूढ़ होता है।

ऐसी महा कष्टदायक शल्य - भाव और द्रव्य के भेद से 2

1. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा-26

प्रकार की है[1]–

1) भाव शल्य

2) द्रव्य शल्य

भाव शल्य तीन प्रकार की है–

1) मिथ्या शल्य 2) माया शल्य 3) निदान शल्य

मिथ्या शल्य भी 3 प्रकार की है–

1) दर्शन शल्य 2) ज्ञान शल्य 3) चारित्र शल्य

आचार्य अपराजित सूरि[2] ने शल्य के इन 3 भेदों को दो रूपों में बताया है।

1. मिथ्या, माया और निदान के रूप में,

2. दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रूप में;

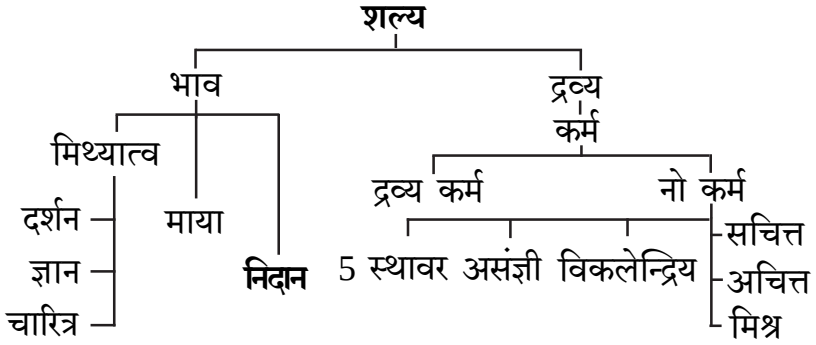

यहाँ थोड़ा गहराई से विचार करें तो शल्य के दर्शन–ज्ञान–चारित्र – ये तीनों प्रकार मिथ्या शल्य को ही बतलाते हैं; अत: यहाँ दर्शन–ज्ञान–चारित्र को मिथ्या शल्य के प्रभेद के रूप में ही कहा है।

मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र शल्य को बताते हुए आचार्य अपराजित सूरि कहते हैं–

1. यथा सत् प्राणिनो बाधाकरं तथा शारीरमानसबाधा–हेतुत्वात्कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यते। – सर्वार्थसिद्धि/राजवार्तिक, अध्याय–7, सूत्र–18

2. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा–540

'सम्यग्दर्शन के नि:शंकित आदि 8 गुणों में दोष उत्पन्न करने वाली मिथ्या–दर्शन शल्य है। सम्यग्ज्ञान के अर्थाचार आदि 8 गुणों में दोष उत्पन्न करने वाली मिथ्या–ज्ञान शल्य है और सम्यक्चारित्र के 8 गुणों में अर्थात् समिति–गुप्ति में अनादर रहना मिथ्या–चारित्र शल्य है।'[1]

बाह्य में बगुले जैसा वेश धारण कर लोक को प्रसन्न करना ही माया शल्य है। **'सम्यग्दर्शन के 8 गुणों में से नि:कांक्षित गुण का घात करने वाली निदान शल्य है।'**[2]

प्रश्न :– मिथ्यात्व और मिथ्या शल्य – दोनों एक हैं या इनमें कुछ अंतर है?

उत्तर :– मिथ्यात्व और मिथ्या शल्य दोनों अलग–अलग हैं। सम्यक्त्व के साथ मिथ्यात्व नहीं हो सकता है (यहाँ मिश्र गुणस्थान की विवक्षा नहीं है); परंतु सम्यक्त्व के साथ मिथ्या शल्य हो सकती है।

सम्यक्त्व में मिथ्यात्व अनाचार स्वरूप है; परंतु मिथ्या शल्य अतिचार स्वरूप है। मिथ्यात्व तीसरे गुणस्थान पर्यंत होता है; परंतु मिथ्या शल्य चौथे गुणस्थान पर्यंत होती है।

शंका :– क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में लगने वाले चल–मल–अगाढ़ दोषों को मिथ्या–शल्य कह सकते हैं क्या?

समाधान :– नहीं! क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में लगने वाले चल–मल–अगाढ़ दोषों को मिथ्या–शल्य नहीं कह सकते हैं; क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व 7वें गुणस्थान तक होता है और उसमें लगने वाले दोष भी 7वें गुणस्थान तक ही होते हैं; परंतु **'नि:शल्यो व्रती'**[3] –

1. दर्शनस्य शल्यं शंकादि। ज्ञानस्य शल्यं अकाले पठनं अविनयादिकं च। चारित्रस्य शल्यं समिति–गुप्त्योरनादर:। योगस्य...असंयमपरिणमनं। तपसश्चारित्रे अंतर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तम्। – भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा–540

2. मूलाचार टीका, गाथा–250 3. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय–7, सूत्र–18

व्रती के शल्य नहीं होती है अर्थात् 5-6-7वें गुणस्थान में किसी भी प्रकार की शल्य नहीं होती है; इसलिए क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में लगने वाले चल-मल-अगाढ़ दोषों को मिथ्या-शल्य नहीं कहा जा सकता है।

इसीप्रकार माया कषाय और माया शल्य में भी किंचित अंतर है। यद्यपि आगम में इन दोनों के अंतर के संबंध में विशेष चर्चा नहीं मिलती है; इसलिए यह कहना थोड़ा कठिन है कि कौन-से भाव माया कषायरूप हैं और कौन-से भाव माया शल्यरूप हैं; तथापि इतना तो अवश्य है कि दोनों में अंतर तो है। माया कषाय 9वें गुणस्थान तक होती है; परंतु माया शल्य 4थे गुणस्थान तक होती है।

द्रव्य शल्य :- मिथ्यात्व, माया और निदान - इन तीन भाव शल्यों में जो कारण है - ऐसे कर्म द्रव्य-शल्य कहलाते हैं।

यह द्रव्य शल्य भी 3 प्रकार की है-

1. सचित्त द्रव्य-शल्य
2. अचित्त द्रव्य-शल्य
3. मिश्र द्रव्य-शल्य

'दासादिक सचित्त द्रव्य-शल्य हैं, सुवर्ण आदि पदार्थ अचित्त द्रव्य शल्य हैं और ग्रामादि मिश्र द्रव्य-शल्य हैं। ये सभी पदार्थ भाव शल्य में निमित्त होते हैं; अत: इनको द्रव्य-शल्य कहते हैं।'[1]

मूल में कर्म ही द्रव्य-शल्य हैं। वे कर्म 2 प्रकार के हैं - द्रव्य कर्म और नोकर्म। द्रव्य कर्म और नोकर्म को द्रव्य-शल्य कहा गया है। ऊपर जिस कर्म को द्रव्य-शल्य कहा था, वह द्रव्य-कर्मरूप है और यहाँ सचित्त-अचित्त एवं मिश्र - ये 3 द्रव्य-शल्य नोकर्मरूप हैं।

1. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा-541

प्रश्न :- ये शल्यें किस गुणस्थान तक होती हैं?

उत्तर :- 'नि:शल्यो व्रती' सूत्र के अनुसार ये सभी शल्यें चौथे गुणस्थान तक होती हैं; परंतु आचार्य अपराजित सूरि ने भगवती आराधना की विजयोदया टीका में 'निदान शल्य को संयमासंयम नामक पाँचवें गुणस्थान तक और माया शल्य को 7वें गुणस्थान तक कहा है'[1]; परंतु आचार्य विद्यानंद स्वामी ने 'निदान शल्य को चौथे गुणस्थान तक ही कहा है। पाँचवें गुणस्थान में अप्रव्यक्त निदान कहा है।'[2] यह अप्रव्यक्त निदान, शल्यरूप न होकर आर्तध्यानरूप है।

इसी के संबंध में सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी शंका उठाकर उसके समाधान में लिखते हैं-

व्रती होने के लिए दोनों (शल्य रहित व हिंसादि का त्याग) विशेषताओं से युक्त होना आवश्यक है। यदि किसी ने शल्यों का त्याग नहीं किया और केवल हिंसादि दोषों को छोड़ दिया तो वह व्रती नहीं हो सकता। यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है, जिसने शल्यों का त्याग करके व्रतों को स्वीकार किया है।[3]

प्रश्न :- इसप्रकार तो आचार्य अपराजित सूरि का कथन असत्य सिद्ध हो जाएगा?

उत्तर :- तथ्य की दृष्टि से आचार्य विद्यानंद स्वामी व पूज्यपाद स्वामी का कथन बलवान है। तथापि आ. अपराजित सूरि का कथन उपचार दृष्टि से सत्य है। उन्होंने निदान शल्य में निदान आर्त्तध्यान का

1. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा-25 (असंयत सम्यग्दृष्टे: संयतासंयतस्य वा निदान शल्यं भवति। पार्श्वस्थानादिरूपेण चिरं विहृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्माया शल्यं तस्य भवति।...)
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय-7, सूत्र-18, पृ.59
3. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-7, पृ.276

उपचार कर उसे पाँचवें गुणस्थान तक कहा और माया शल्य में माया कषाय का उपचार करके उसे सातवें गुणस्थान तक कहा।

इसप्रकार दोनों ही आचार्यों का कथन अपनी-अपनी विवक्षा से सत्य है।

इसप्रकार जिनागम में भाव शल्य के अंतर्गत निदान का वर्णन प्राप्त होता है।

2) ध्यान के अंतर्गत निदान शब्द का प्रयोग :-

'**एकाग्रचिंता निरोधो ध्यानं**' अर्थात् चिंतन को अन्य विषयों की ओर से हटाकर किसी एक विषय की ओर लगाना ध्यान है।[1]

राग-द्वेष-मिथ्यात्व से अछूते, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले और अन्य विषयों में संचार न करने वाले ज्ञान को ध्यान कहते हैं।[2] यह परिभाषा मुख्यतः मोक्षमार्ग की अपेक्षा है।

आचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण[3] में ज्ञान की पर्याय को ध्यान कहा है। जिसे डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल के शब्दों में कह सकते हैं कि 'जानते रहने का नाम ही ध्यान है।'[4] उपयोग की एकाग्रता का नाम ध्यान है। ध्यान के स्वरूप में '**एकाग्रता**' इस शब्द का एक विशिष्ट स्थान है। यदि ध्यान के स्वरूप में से एकाग्रता शब्द को हटा दिया जाए, तो ध्यान का स्वरूप ही नहीं बनेगा; इसलिए उपयोग की एकाग्रता, चित्त की स्थिरता, लीनता या जानते रहने का नाम ध्यान है।

यह ध्यान 4 प्रकार का होता है-

1) आर्त्त ध्यान 2) रौद्र ध्यान
3) धर्म्य ध्यान 4) शुक्ल ध्यान

1. ज्ञानार्णव गाथा-1195 2. विजयोदया टीका, गाथा-41
3. आदिपुराण, सर्ग-21, श्लोक-15
4. इसीप्रकार पन्नालालजी साहित्याचार ने आराधनासार, गाथा-38 के भावार्थ में कहा है।

काल की बलिहारी है कि इस पंचम काल में प्रारम्भ के तीन (आर्त, रौद्र और धर्म्य) ध्यान ही हो सकते हैं; परंतु यह जीव इन तीनों ध्यानों में से भी केवल आर्त्त और रौद्र ध्यान को ही करता है। जो संसार के कारणभूत एवं कष्टदायक हैं। जो मोक्ष के कारणभूत एवं आनन्द प्रदायक हैं, ऐसे धर्म्य और शुक्ल ध्यान को पहचानता तक नहीं है।

आर्त्त में यह जीव रोता है, दु:खी होता है, खेद-खिन्न होता है। रौद्र ध्यान में पापों में आनंद मानता है। धर्म्य ध्यान में स्वरूप का मनन-चिंतन इत्यादि करता है और शुक्ल ध्यान में क्रमशः स्थिरता को बढ़ाते हुए अनंत आनन्द की प्राप्ति करता है।

आर्त्त-रौद्र आदि प्रत्येक ध्यान चार-चार प्रकार के हैं। उनमें से आर्त्तध्यान के चार भेदों में से एक भेद है निदान। यथा-

1) अनिष्ट संयोगज 2) इष्ट वियोगज
3) वेदना जन्य 4) निदानज

इसप्रकार 'निदान' शब्द का प्रयोग ध्यान के अंतर्गत आर्त्तध्यान के रूप में किया गया है।

जिनागम में निदान का वर्णन निदान शल्य और आर्त्तध्यान के रूप में प्राप्त होने पर भी आर्तध्यान की अपेक्षा शल्य के अंतर्गत निदान का वर्णन अधिक प्राप्त होता है।

प्रश्न :- निदान शल्य और निदान आर्त्तध्यान में क्या अंतर है?

उत्तर :- निदान शल्य और निदान आर्त्तध्यान में चार अपेक्षाओं से अंतर देखा जा सकता है-

1) काल की अपेक्षा - निदान शल्य अधिक समय तक होती है; परंतु निदान आर्त्तध्यान उससे थोड़े कम समय तक होता है। (निदान शल्य का काल अंतर्मुहूर्त है और निदान आर्त्तध्यान का काल निदान शल्य के अंतर्मुहूर्त से कम है।)

2) कषाय उद्रेक की अपेक्षा – निदान शल्य में कषायों का उद्रेक तीव्र होता है; परंतु निदान आर्त्तध्यान में कषायों का उद्रेक मंद-तीव्र (मध्यम) होता है।

3) स्वामी की अपेक्षा – निदान शल्य चौथे गुणस्थान तक होती है और निदान आर्त्तध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है।

4) व्यक्तता की अपेक्षा – चौथे गुणस्थान तक होने वाली निदान शल्य को प्रव्यक्त निदान कहते हैं और पाँचवें गुणस्थान तक होने वाले निदान आर्त्तध्यान को अप्रव्यक्त निदान कहते हैं।

तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक में निदान शल्य के प्रकरण में निदान आर्तध्यान के लिए 'अप्रव्यक्त निदान' शब्द का प्रयोग किया है, इससे यह प्रतीत होता है कि एक प्रव्यक्त निदान भी होता है, जो निदान शल्यरूप है।

प्रव्यक्त निदान से तात्पर्य है कि जिस निदान में कषायों की तीव्रता हो और जो स्पष्ट रूप में ज्ञान का विषय बन सके, वह प्रव्यक्त निदान है तथा इससे विपरीत अप्रव्यक्त निदान है अर्थात् इस अप्रव्यक्त निदान (आर्तध्यान) में कषायों की तीव्रता नहीं होती है तथा यह स्पष्ट रूप से ज्ञात भी नहीं हो जाता है।

	विवक्षा	निदान शल्य	निदान आर्तध्यान
1.	**काल**	अधिक समय तक	कम समय तक
2.	**कषाय उद्रेक**	तीव्र	मंद-तीव्र (मध्यम)
3.	**स्वामी (गुणस्थान)**	पहले से चौथे गुणस्थानवर्ती जीव	पहले से पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव
4.	**व्यक्तता**	प्रव्यक्त निदान	अप्रव्यक्त निदान

जिनागम में निदान शल्य और आर्त्तध्यान के अतिरिक्त '**निदान बंध**' के रूप में भी निदान शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है; तथापि आगम में 'निदान बंध' का प्रयोग शल्य और आर्त्तध्यान की अपेक्षा बहुत कम स्थानों पर मिलता है। जैसे – समयसार ग्रन्थ की जयसेन आचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में निदान बन्ध का प्रयोग है। जो निम्नप्रकार है –

'रागद्वेषमोह – ख्यातिपूजालाभ – दृष्टश्रुतानुभूत – भोगाकांक्षारूप–निदानबंध:'[1] अर्थात् राग-द्वेष-मोह, ख्याति-पूजा-लाभ, दृष्ट-श्रुत-अनुभूत, भोगाकांक्षारूप निदान बन्ध है।

यहाँ निदान शल्य और आर्त्तध्यान से होने वाले बंध को ही संक्षेप में **निदान बंध** कहा है; ऊपर निदान बंध की परिभाषा में आए 'दृष्ट-श्रुत-अनुभूत'[2] शब्द निदान शल्य को बताते हैं तथा 'भोगाकांक्षा'[3] शब्द निदान आर्त्तध्यान को बताता है; अतः निदान बन्ध में शल्य और आर्त्तध्यान के अतिरिक्त अन्य कुछ विशेष नहीं है, उन्हीं दोनों का विषय इस निदान बन्ध में आ जाता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि जब आगम में निदान बंध का अधिक उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, तब फिर जगत में 'निदान बंध' ऐसा प्रयोग अधिक प्रचलित क्यों है?

समाधान :– जगत तो प्रत्येक कार्य में अपनी सुख-सुविधा को ढूँढ़ता है; इसलिए यह जगत मुख-सुख (उच्चारण करने में सरलता का अनुभव होने) की दृष्टि से संक्षेप में 'निदान बंध' ऐसा कहने लगा।

निदान शब्द से निदान शल्य और निदान आर्त्तध्यान का ग्रहण

1. समयसार (तात्पर्यवृत्ति टीका), गाथा-306-307
2. निदान शल्य (द्रव्यसंग्रह, गाथा-42 की टीका)
3. निदान आर्तध्यान (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-7, सूत्र-18)

हो जाता है और बंध शब्द से कर्म बंधन का। निदान शल्य और आर्त्तध्यान से होने वाले बंध को **निदान बंध** कहते हैं।

इसीप्रकार निदान बंध के तीन अर्थ और निकल सकते हैं, यथा–

1) कारण की अपेक्षा (निदान – कारण) :–

निदान बंध – **1. 'निदान से बंध'**[1] (निदान – कारण, बंध – कार्य) बंध के अनेक कारणों को निदान शब्द से कहा जा सकता है। जैसे – मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन कारणों से बंधरूप कार्य होता है अर्थात् निदान से बंध होता है। इसे ही संक्षेप में निदान बंध कहा जाने लगा।

2. बंध का निदान अर्थात् बंध का कारण।

यद्यपि 'बंध का निदान' यह विग्रह व्याकरण की दृष्टि से उचित नहीं है; परंतु लोक में प्रचलित अर्थ को ध्यान में रखते हुए यहाँ व्याकरण के नियम को गौण करके यह अर्थ निकाला जा सकता है कि **निदान बंध** अर्थात् **'बंध का कारण।'**

2) निधत्ति–निकाचित कर्म की अपेक्षा (निदान – निधत्ति/निकाचित कर्म) :–

निदान बंध – **निदान का बंध**[2] अर्थात् निधत्ति–निकाचित कर्म का बंध।

3) इच्छा की अपेक्षा (निदान – इच्छा) :–

निदान बंध – **निदान से होने वाला बंध**[3] अर्थात् इच्छा से होने वाला बंध।

1. यहाँ तृतीया तत्पुरुष समास के द्वारा उक्त अर्थ किया है।
2. यहाँ षष्टि तत्पुरुष समास के द्वारा उक्त अर्थ किया है।
3. यहाँ तृतीया तत्पुरुष समास के द्वारा उक्त अर्थ किया है।

'इच्छा से होने वाला बंध' कहें या 'निदान शल्य व आर्त्तध्यान से होने वाला बंध' – दोनों में कोई अंतर नहीं है, मात्र शब्दों का अंतर है। निदान शल्य और आर्त्तध्यान के स्थान पर इच्छा को लिया है; क्योंकि निदान शल्य और निदान आर्त्तध्यान में इच्छा की अहं भूमिका रहती है; इसलिए निदान शल्य और निदान आर्त्तध्यान को संक्षेप में इच्छा कहा जाता है और ऐसी इच्छा से होने वाले बंध को निदान बंध कहते हैं।

प्रश्न :– पहले और तीसरे (कारण और इच्छा) अर्थ में क्या अंतर है? क्योंकि पहले अर्थ के पहले बिंदु में 'निदान से बंध' – यह विग्रह किया है और तीसरे अर्थ में 'निदान से होने वाला बंध' यह विग्रह किया गया है – दोनों ही अर्थ समान प्रतीत होते हैं; फिर दोनों को अलग–अलग क्यों कहा?

उत्तर :– दोनों अर्थों में किंचित् अंतर है। पहले अर्थ में 'सामान्य कारण' के रूप में निदान शब्द का प्रयोग किया है और तीसरे अर्थ में 'विशेष कारण' (इच्छा) के रूप में किया है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि सामान्यरूप से इच्छा से होने वाले बंध को निदान बंध कहा जाता है; परंतु गहराई से विचार करें तो इच्छा मात्र से होने वाला बंध, निदान बंध नहीं है। इच्छा के साथ अन्य अनेक शर्तें (कारण) भी जुड़ी हुई हैं; क्योंकि जिनागम में इस निदान शब्द का प्रयोग एक पारिभाषिक शब्द के रूप में किया गया है।

अनेक आचार्यों ने विविध शब्दों के माध्यम से निदान को परिभाषित किया है, जो निम्नप्रकार से हैं (प्रत्येक परिभाषा में जो विशिष्ट शब्द आए हैं, उन्हें रेखांकित (Underline) किया है।)

तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं–

'निदानं विषयभोगाकांक्षा'[1]

विषय–भोगों की आकांक्षा का नाम निदान है।[2]

इस परिभाषा में एक बिंदु को और जोड़ते हुए आचार्य वसुनंदी स्वामी मूलाचार की टीका आचारवृत्ति में लिखते हैं–

'इहलोक–परलोक–सुखाकांक्षा निदानम्।'[3]

इहलोक–परलोक में सुख की आकांक्षा करना, निदान है।

इच्छा के स्थान पर मन के उपयोग को निदान कहते हुए आचार्य अपराजित सूरि भगवती आराधना की विजयोदया टीका में लिखते हैं–

इदमेव स्यादनागते काले इति मनसः प्रणिधानं निदानम्।[4]

आगामी काल में यही होना चाहिए, इसप्रकार मन के उपयोग को **निदान** कहते हैं।

'रत्नत्रयत्वान्मुक्तेः अनंत–ज्ञानादि–काच्चान्यत्र चित्तं प्रणिधानमिदमेतत् फलं स्यादिति निदानम्।'[5]

रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग से और अनंत ज्ञानादिक से अन्यत्र चित्त का उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, यह **निदान** है।

इसे ही आ. अकलंक देव राजवार्तिक में इसप्रकार कहते हैं-

1. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय–7, सूत्र–18
2. इसीप्रकार तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, अध्याय–7, सूत्र–18 में कहा है – 'विषय–भोगों की आकांक्षा करना, निदान है।'
3. मूलाचार टीका (आचारवृत्ति), गाथा–86
4. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा–26
5. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा–1208

'भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्।।6।। विषयसुखोत्कर्षाभिलाषो भोगाकाङ्क्षा तया नियतं चित्तं दीयते तस्मिंस्तेनेति वा निदानमिति व्यपदिश्यते।'[1]

भोगों की आकांक्षा से जिसमें व जिसके द्वारा चित्त दिया जाता है, वह निदान है। विषय–सुखों की उत्कट अभिलाषा, भोगाकांक्षा है। उस भोगाकांक्षा से जिसमें नियतरूप से चित्त दिया जाता है तथा जिसके द्वारा दिया जाता है, वह **निदान** है।[2]

यहाँ 'जिसमें' पद से भावों का विषय–भोगों में उपचार करके उन विषय–भोगों को ही निदान कहा है और 'जिसके द्वारा' पद से भावों को भी निदान कहा है।

द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की टीका में आचार्य ब्रह्मदेव सूरि निदान की आध्यात्मिकी परिभाषा बताते हुए लखते हैं–

'निर्विकार – परमचैतन्य – भावनोत्पन्न – परमाह्लादैकरूप–सुखामृतरसास्वादम् अलभमानोऽयं जीवो दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतं निरंतरं चित्तं ददाति तन्निदानशल्यमभिधीयते।'[3]

निर्विकार–परमचैतन्य की भावना से उत्पन्न परमाह्लाद जिसका स्वरूप है, ऐसे सुखामृत रस का स्वाद न लेते हुए यह जीव देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किए हुए भोगों में जो निरंतर चित्त को देता है, उसे **निदान शल्य** कहते हैं। (यहाँ भावों को ही निदान कहा है।)

इसी भाँति तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक में आचार्य विद्यानंद स्वामी

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय–7, सूत्र–37
2. इसीप्रकार सर्वार्थसिद्धि, अध्याय–7, सूत्र–37 में कहा है – 'भोगाकांक्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम् अर्थात् भोगों की आकांक्षा से जिसमें और जिसके कारण चित्त को दिया जाता है, उसे निदान कहते हैं।
3. द्रव्यसंग्रह, गाथा–42 (टीका)

भी लिखते हैं–

भविष्य में भोगों की आकांक्षा के वश होकर वैषयिक सुख की उत्कट प्राप्ति के लिए मनोवृत्ति करना, **निदान** है।[1]

भविष्य सुख की प्राप्ति में एकाग्र लटक रहे मन का अपूर्व पदार्थ की प्रार्थना में अभिमुख बने रहने से **निदान** होता है।[2]

विद्याधर, चक्रवर्ती, देव, इंद्र, अहमिंद्र आदि के भोगों की आकांक्षा करके नियत हो रहा चित्त उस **निदान** में दिया जाता है अथवा उसका भोगाभिप्राय करके चित्त की टकटकी लगी रहती है, इस कारण वह (भोगाभिप्राय) **निदान** कहलाता है।[3]

जो स्मृतियों का पुनः–पुनः अभ्यास वृत्त होकर उपजना है, वह **निदान** है।[4]

स्मृतियों का एकाग्र उठते रहना, **निदान नामक आर्त्तध्यान** है।[5]

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के साररूप में आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में इसप्रकार कहते हैं–

'भोगाकाङ्क्षातुरस्यानागतविषयप्राप्तिं प्रति मनःप्रणिधानं संकल्पश्चिन्ता–प्रबन्धस्तुरीयमार्तं निदानमित्युच्यते।'[6]

भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति के आगामी भोगों की प्राप्ति के लिए मनः प्रणिधान का होना, संकल्प तथा निरंतर चिंता करना, निदान **नामक आर्त्तध्यान** है।

आ. रविषेण स्वामी पद्मपुराण में तप की मुख्यता से कहते हैं –

'भोगों की आकांक्षा के लिए तप को दूषित करना, **निदान** है।'

1. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, अध्याय–7, सूत्र–37
2. वही, अध्याय–9, सूत्र–33
3. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, अध्याय–7, सूत्र–37
4. वही, अध्याय–9, सूत्र–33
5. वही, अध्याय–9, सूत्र–33
6. सर्वार्थासिद्धि, अध्याय–9, सूत्र–33

अंत में निदान का फल दिखाते हुए तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र (श्वेताम्बर) में आचार्य उमास्वाति देव निदान की परिभाषा इसप्रकार बताते हैं–

निदान अर्थात् महाव्रत आदि की साधना के फलरूप में इहलोक–परलोक के सुखों की इच्छा करना **निदान** है।[1]

निदान अर्थात् नष्ट करने का साधन। जिससे **आत्म–सुख नष्ट हो जाता है, वह निदान है।** धर्म के स्वरूप में इहलोक–परलोक के सुखों की इच्छा रखने से आत्म–सुख नष्ट हो जाता है; इसलिए धर्म के फलरूप में इहलोक–परलोक के भौतिक सुखों की इच्छा करना, **निदान** है।[2]

उपर्युक्त निदान शल्य और निदान आर्त्तध्यान दोनों को एक साथ बताने हेतु समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन स्वामी ने 'निदान बन्ध' इस पद का प्रयोग किया है।

शंका :– उपर्युक्त परिभाषाओं के अंतर्गत तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक में **अपूर्व पदार्थों** की इच्छा को निदान कहा है तथा द्रव्यसंग्रह में **सुने हुए, देखे हुए और अनुभव किए** हुए पदार्थों की इच्छा को निदान कहा है; इसप्रकार दोनों आचार्यों का परस्पर विरुद्ध कथन है, तो हम किन आचार्य के कथन को सत्य माने?

समाधान :– यहाँ दोनों ही कथन सत्य हैं; क्योंकि तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक में **निदान आर्त्तध्यान** की चर्चा है और द्रव्यसंग्रह में **निदान शल्य** की चर्चा है; इसलिए यहाँ प्रकरण की भिन्नता होने से दोनों आचार्य में परस्पर विरोध नहीं है। अब रही बात हम किसे सत्य माने?

1. तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र, अध्याय–7, सूत्र–32
2. वही, अध्याय–9, सूत्र–33

तो यहाँ हम आर्तध्यान या शल्य की चर्चा नहीं कर रहे हैं; अपितु निदान सामान्य की चर्चा कर रहे हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के साररूप में कह सकते हैं–

आगामी काल में भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अति आसक्ति पूर्वक निरंतर इच्छा करना, निदान है।

इस परिभाषा में चार पद मुख्य हैं :–

1) आगामी काल[1]

2) भौतिक सुख[2]

3) अति आसक्ति पूर्वक निरंतरता[3]

4) इच्छा[4]

निदान की परिभाषा में इन चारों ही पदों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक पद का अपना एक विशिष्ट स्थान है। यदि इनमें से एक भी पद को छोड़ दिया जाए, तो वह निदान नाम नहीं पा सकता है; अत: चारों पदों का अतीव महत्त्व है।

यहाँ पदों का विश्लेषण परिभाषा के क्रमानुसार न करके पदों की महत्ता एवं विकास क्रम के अनुसार किया है–

1. 'आगामी काल' हेतु परिभाषाओं में प्रयुक्त अन्य शब्द – इहलोक–परलोक/ भविष्य।
2. 'भौतिक सुख' हेतु परिभाषाओं में प्रयुक्त अन्य शब्द – भोग/ सुख/ दृष्ट–श्रुत–अनुभूत भोग/ वैषयिक–सुख/ अपूर्व पदार्थ।
3. 'अति आसक्ति पूर्वक निरंतरता' हेतु परिभाषाओं में प्रयुक्त अन्य शब्द – उत्कट रहना/ नियतरूप से/ एकाग्र लटक रहे/ टक–टकी लगाना/ पुन: पुन: अभ्यास वृत्त/ एकाग्र उठते रहना/ आतुर होना/ संकल्पपना/ अटकना/ चिंता।
4. 'इच्छा' हेतु परिभाषाओं में प्रयुक्त अन्य शब्द – आकांक्षा/ मन का उपयोग/ चित्त का उपयोग/ चित्त का देना/ मनोवृत्ति/ मन का अभिमुख होना/ चित्त की टक–टकी/संकल्परत/ चिंतारत।

1. इच्छा :–'इच्छा' इस पद का निदान की परिभाषा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि निदान का प्रारंभ भी यहाँ से होता है और अंत भी। 'इच्छा' इस पद को अनेक आचार्यों ने विभिन्न शब्दों के माध्यम से कहा है, जैसे – आकांक्षा[1], मन का उपयोग[2], चित्त का उपयोग[3], चित्त का देना[4], मनोवृत्ति[5], मन का अभिमुख होना[6], चित्त की टक–टकी[7], संकल्परत[8], चिंतारत[9] इत्यादि रूपों से कहा है; इसप्रकार शब्दों की विभिन्नता होने पर भी अर्थ की भिन्नता नहीं है।

इच्छा अर्थात् आकांक्षा, चाह, अभिलाषा, आशा, लालसा, तमन्ना, इत्यादि। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए लगाया जाने वाला उपयोग ही आकांक्षा है।

आकांक्षा मन के उपयोग से, मनोवृति से, चित्त की टक–टकी से अलग और कुछ नहीं है। वास्तव में आकांक्षा तो एक प्रकार की मनोवृत्ति ही है।

(मनोवृत्ति + प्राप्ति की भावना = इच्छा) जब मनोवृत्ति में प्राप्ति की भावना जुड़ जाती है, तब उसी मनोवृत्ति को इच्छा कहा जाता है। इस इच्छा (आकांक्षा) शब्द से सर्व जगत भली–भाँति परिचित है; इसलिए अधिकांश आचार्यों ने परिभाषा में इच्छा शब्द का प्रयोग किया है।

इच्छा ही दु:खों का मूल कारण है, इसी के कारण राग–द्वेष की उत्पत्ति होती है या ऐसा कहें कि राग–द्वेष इस इच्छा के ही कोमल–कठोर रूप हैं। इच्छा की भयानकता व विशालता को दिखलाते हुए आचार्य गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन ग्रंथ में लिखते हैं–

1. सर्वार्थसिद्धि 2. भगवती आराधना 3. वही 4. तत्त्वार्थराजवार्तिक 5. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक 6. वही 7. वही 8. सर्वार्थसिद्धि 9. वही

आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन्विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।36।।

इस एक विश्व में अनंतानंत प्राणी रहते हैं और प्रत्येक प्राणी का आशारूपी गड्ढा इतना गहरा है कि जिसमें संपूर्ण विश्व अणु के समान दिखाई देता है। जब एक ही जीव के आशारूपी गड्ढे में यह पूरा विश्व एक अणु के समान दिखाई देता है, तब फिर यह विश्व सबकी तृष्णा की पूर्ति करने में कैसे समर्थ है? किसको कितनी विभूति दे सकता है? अर्थात् रंच मात्र भी नहीं; इसलिए तेरी विषयों की इच्छा व्यर्थ ही है और यह उल्टा तुझे ही महा-व्याकुल करने वाली है।

इच्छाओं के जिस घने जाल में हम निरंतर उलझते ही जा रहे हैं, उसे पण्डित टोडरमलजी[1] ने 4 भागों में विभाजित किया है; जो इसप्रकार हैं-

1) विषय को जानने-देखने की इच्छा :- इससे यह जानना-देखना चाहता है। जैसे - वर्ण देखने की, राग सुनने की, अव्यक्त को जानने की इत्यादि इच्छाएँ होती हैं। वहाँ अन्य कोई पीड़ा नहीं है; परंतु जब तक जानता-देखता नहीं है, तब तक महा-व्याकुल रहता है।

2) कषाय पूर्ति की इच्छा :- इस इच्छा में कषाय भावों के अनुसार कार्य करना चाहता है। जैसे - बुरा करने की, हीन करने की इत्यादि इच्छाएँ होती हैं। यहाँ भी अन्य कोई पीड़ा नहीं है; परंतु जब तक वह कार्य न हो, तब तक महा-व्याकुल रहता है।

3) पापोदय को दूर करने की इच्छा :- इस इच्छा में पाप के उदय से जो शरीर में या बाह्य अनिष्ट कारण मिलते हैं, उनको दूर करना चाहता है। जैसे - रोग, पीड़ा, क्षुधा आदि का संयोग होने पर उन्हें दूर

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-3, पृष्ठ-70

करने की इच्छा होती है। सो यहाँ यही पीड़ा है कि जब तक वह दूर न हो, तब तक महा-व्याकुल रहता है।

4) पुण्योदय में प्रवृत्ति करने की इच्छा :- पुण्योदय से उक्त तीनों प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है; परंतु उनका साधन एक साथ नहीं हो सकता; इसलिए एक को छोड़कर अन्य में लगता है। इसप्रकार अनेक कार्यों की प्रवृत्ति में इच्छा होते हुए भी सभी में एक साथ प्रवृत्ति नहीं कर सकता है; इसलिए महा-व्याकुल रहता है।

इसप्रकार सामान्यरूप से इच्छाओं को चार रूपों में प्रस्तुत किया है, लेकिन इच्छाएँ केवल चार प्रकार की ही नहीं होती हैं; अपितु अनेक प्रकार की होती हैं। प्रत्येक इच्छा के अनेक प्रकार हैं।

लौकिक में भी सुख-शांति प्राप्त करने के लिए परिणामों की संभाल अति-आवश्यक है; इसलिए सुख-शांति प्राप्त करने के लिए ऐसी खतरनाक, प्रतिपल रुलाने वाली इच्छाओं को किसी भी कीमत पर छोड़ना ही चाहिए।

इच्छाओं का नाम निदान है; किन्तु मात्र इच्छाएँ ही निदान नहीं हैं और न ही सभी इच्छाएँ निदान हैं। **यदि केवल इच्छाएँ ही निदान होतीं, तब इच्छा और निदान दोनों पर्यायवाची होने चाहिए थे; परंतु ऐसा तो है नहीं। इच्छा और निदान दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि सामान्यरूप से निदान को इच्छा कह दिया जाता है। तथापि इच्छाएँ निदान से बहुत अधिक हैं; क्योंकि वे श्रेणी के सराग गुणस्थानों (9वें गुणस्थान) में भी होती हैं; परंतु निदान तो मात्र चौथे या पाँचवें गुणस्थान तक ही होता है।**

निदान तो इच्छाओं का अंश मात्र है; अतः इसके बिना निदान का प्रारंभ भी नहीं हो सकता है; इसलिए निदान के अंतर्गत सर्वप्रथम इच्छाओं के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

इच्छा मात्र निदान नहीं है और न ही सम्पूर्ण इच्छाएँ निदान हैं तो फिर किसप्रकार की इच्छाएँ निदान हैं? और कौन-सी इच्छाएँ निदान में आती हैं? इसके **उत्तर** स्वरूप दूसरा विशेषण है 'अति आसक्ति पूर्वक निरंतरता'-

2. अति आसक्ति पूर्वक निरंतरता :-'अति आसक्ति' यह पद इच्छा के भाव पक्ष को बताता है और 'निरंतरता' यह पद इच्छा के काल पक्ष को बताता है।

ध्यातव्य बात यह है कि यहाँ आसक्ति के साथ 'अति' विशेषण का प्रयोग किया है। मात्र आसक्ति शब्द का नहीं; क्योंकि आसक्ति और राग-द्वेष का होना स्वाभाविक है। जब तक विकल्पात्मक दशा है, तब तक सामान्य आसक्त भाव और राग-द्वेष का होना सहज ही है।

इसलिए निदान के प्रकरण में जो हमारे दैनिक व्यवहार में सहज हैं, ऐसी सामान्य आसक्ति, राग-द्वेष पूर्वक इच्छाओं की बात नहीं है; अपितु अत्यधिक आसक्ति और तीव्र राग-द्वेष की बात है।

अति आसक्ति और राग-द्वेष पूर्वक जो इच्छा होती है, वह निदान है।

'जैसे - नागदत्त सेठ ने नियम लिया था कि जब तक दीपक जलता रहेगा, तब तक मैं सामायिक करता रहूँगा। सामायिक करते समय सेठजी को प्यास लगी। **इसप्रकार प्यास लगने की इच्छा सामान्य है, सहज है। यह निदान नहीं है।**

सेठजी दीपक बुझने का इंतजार करने लगे; परंतु जैसे ही दीपक बुझने को होता, वैसे ही भवदत्ता सेठानी उसमें तेल भर देती - ऐसा बारम्बार होने लगा।

पहले सेठजी के जो सामान्य आसक्ति पूर्वक इच्छा हो रही थी। अब उसी में तीव्रता आती जा रही है। वह इच्छा अत्यंत वेगवती हो गई। ऐसी अति आसक्ति पूर्वक इच्छा ही निदान है।

अंत में पानी-पानी... करते हुए निदान पूर्वक मरण करके अगले भव में उसी निदान के फलस्वरूप पानी में मेंढ़क हुए...'[1]

निरंतरता :- यह इच्छा के काल (समयावधि) पक्ष को बताता है। अति आसक्ति पूर्वक इच्छाओं में निरंतरता होती ही है।

यहाँ **कोई कहे** की इच्छाएँ तो दिनभर निरंतर चलती ही रहती हैं, तो क्या वे सभी निदान हैं?

समाधान :- नहीं! यहाँ 'निरंतर इच्छा' इस पद से दिनभर चलने वाली इच्छाओं को नहीं लिया है। जब तक आत्मलीनता नहीं होगी, तब तक सविकल्प दशा में दिनभर चलने वाली इच्छाएँ स्वाभाविक, सहज और सामान्य हैं, निदान नहीं हैं।

किसी विशेष विषय में अति आसक्ति पूर्वक इच्छाओं की निरंतरता ही निदान हैं।

इसी 'अति आसक्ति पूर्वक निरंतरता' को आचार्य भगवंतों ने उत्कट (उत्कर्ष)[2], नियतरूप से[3], एकाग्र लटक रहे[4], टक-टकी लगाना[5], पुन:-पुन: अभ्यास वृत्त[6], एकाग्र उठते रहना[7], आतुर होना[8], संकल्प[9], चिंता[10] इत्यादि भाषा में व्यक्त किया है।

प्रश्न :- क्या संकल्प करना निदान है?

उत्तर :- हाँ! आचार्य पूज्यपाद स्वामी संकल्प को भी निदान

1. आराधना कथा कोष, कथा क्रमांक-114 (जिनपूजन प्रभाव कथा)
2. राजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक 3. वही 4. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक
5. वही 6. वही 7. वही 8. सर्वार्थसिद्धि 9. वही 10. वही

कहते हैं; परंतु संकल्प मात्र निदान नहीं है; क्योंकि संकल्प तो सामान्यतः होते ही रहते हैं। जैसे – देव दर्शन करने के, शास्त्र सुनने के इत्यादि; परंतु यदि यही संकल्प अति आसक्ति और राग–द्वेष पूर्वक किए जाएँ, तो निदान कहलाएंगे।

इसलिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने परिभाषा में 'आतुर' शब्द को लिखा है। जिस संकल्प में आतुरता अर्थात् अति आसक्ति और तीव्र राग–द्वेष हो, वह संकल्प निदान है।

सुरसुंदरी ने ऐसे ही संकल्प पूर्वक निदान किया था...

'चम्पापुर नगर में राजा रिपुवर्धन एवं उनकी रानी रतिसुंदरी रहते थे। उनकी एक पुत्री थी। जिसका नाम सुरसुन्दरी था। उसी राज्य में धनवाय और धनवती नामक सेठ–सेठानी रहते थे। जिनके पुत्र का नाम अमरकुमार था।

एक बार बालिका सुरसुन्दरी घर से सात कोड़ी अपने साड़ी के पल्लू में बाँधकर खेलने गई और पेड़ के नीचे सो गई। तब वहाँ अतिचंचल अमरकुमार ने उसकी साड़ी में से सात कोड़ी निकालकर उनसे मिठाई खरीद ली और अपनी पूरी मित्र मण्डली में बांट दी। अंत में जब सुरसुंदरी को मिठाई देने के लिए गए, तब सुरसुंदरी ने पूछा कि यह मिठाई कहाँ से लाए। अमरकुमार बोले कि यह मिठाई तुमने ही तो दिलवाई है। सुरसुंदरी बोली मैंने कैसे? अमरकुमार ने कहा कि तुम्हारे पल्लू में जो सात कोड़ी थीं, उन्हीं की मिठाई लाया हूँ।

यह सुनते ही सुरसुंदरी को बहुत क्रोध आया और बोली कि अमरकुमार तुमने चोरी की है; इसप्रकार समस्त मित्र मण्डली के सामने अपना अपमान होते देख अमरकुमार बोले कि क्या तुम इन सात कोड़ी

से राज्य खरीद लेतीं। **सुरसुंदरी संकल्प करती हुई बोली** 'हाँ! मैं इनसे राज्य खरीद लेती।'

इसप्रकार अति आतुरता पूर्वक संकल्प किया, जो निदान है।

कालांतर में दोनों बड़े हो गए और दोनों का परस्पर विवाह हो गया। एक दिन सुरसुंदरी सहित अमरकुमार धन कमाने के लिए बाहर जाते हैं। वहाँ सुरसुंदरी थकी हुई होने से एक पेड़ के नीचे विश्राम करने लगती है। इनकी यह अवस्था देखकर अमरकुमार को बचपन की वही घटना याद आ जाती है...तब वे सुरसुंदरी को सात कोड़ी देकर कहते हैं कि लो ये तुम्हारी बचपन की सात कोड़ी, अब इनसे राज्य खरीद लेना। जब राज्य खरीद लो, तब मेरे पास वापस आ जाना।

कुछ समय पश्चात् अनेक कष्टों को सहते हुए अंत में उन्हीं सात कोड़ी के बदले राज्य खरीद लेती है; इसप्रकार पूर्व में जो संकल्प द्वारा निदान किया था, वह पूर्ण हुआ।'[1]

इसीप्रकार आतुरता सहित चिंता आदि करना भी **निदान** है।

'अनुराग और दुःख संकल्प के ही अधीन हैं अर्थात् किसी से प्रीति–अप्रीति करना संकल्प के अधीन है। संकल्प के होने पर ही (भौतिक) सुख–दुःख होता है। संकल्प के अभाव में नहीं।'[2]

सारांश यह है कि 'अति आसक्ति पूर्वक निरंतरता' इस पद के बिना निदान की परिभाषा पूर्ण नहीं हो सकती है; क्योंकि निदान – शल्य व ध्यान का भेद है और दोनों में निरंतरता ही होती है। अंतर मात्र इतना है कि शल्य में निरंतरता अधिक समय तक होती है और ध्यान में थोड़े कम समय तक होती है; परंतु दोनों में ही निरंतरता

1. विस्तार से जानने हेतु देखिए – सुरसुंदरी, पं. काशीनाथ जैन कृत
2. भगवती अराधना, गाथा–1227-29

अवश्य होती है। जब मूल में ही निरंतरता है, तब उसके भेद-प्रभेदों में तो होगी ही; इसलिए निदान की परिभाषा में निरंतर शब्द का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अति आसक्ति पूर्वक इच्छाओं की निरंतरता, मन की एकाग्रता, संकल्प निदान है; परंतु सभी प्रकार की इच्छाओं की निरंतरता, मन की एकाग्रता, संकल्प निदान नहीं है।

वे इच्छाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, जिन्हें दो रूपों में देखा जा सकता है-

1) भौतिक सुख की इच्छा

2) वास्तविक सुख की इच्छा

इनमें से भौतिक सुख की इच्छा ही निदान में आती है, वास्तविक सुख की नहीं। पूर्व में जो 4 प्रकार की इच्छाएँ देखी थीं, वे सभी भौतिक सुख की इच्छाएँ हैं।

अब वह भौतिक सुख क्या है? उसे देखते हैं-

3. भौतिक सुख :- इस जीव का एकमात्र लक्ष्य सुखी होना है और यह गलत भी नहीं है; परंतु जहाँ से यह सुखी होना चाहता है, जिन पदार्थों से सुख की आकांक्षा रखता है, वह गलत है; क्योंकि जब उनमें सुख है ही नहीं, तो वे कैसे दे सकते हैं? लेकिन इस जीव की धृष्टता तो देखो! कि वास्तविक सुख को भूलकर निरंतर उन्हीं विषय-भोगों में चित्त को रमाए रखता है और प्रति समय उन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा करता रहता है।

यहाँ भौतिक शब्द से विषय-कषाय, भोग-संयोग - इन चारों का ग्रहण करना चाहिए।

विषय से तात्पर्य है पंचेन्द्रिय विषय अर्थात् स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण - इन पाँच इंद्रियों के क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द - ये पाँच विषय हैं। ये पंचेन्द्रिय-विषय ही भोग कहलाते हैं। (एक दृष्टि से) विषय, अलग हो और भोग, अलग हो - ऐसा नहीं है; अपितु दोनों एक ही हैं।

आचार्य वसुनंदी स्वामी **भोग** की परिभाषा बताते हुए कहते हैं-

'सांसारिकसुखहेतून् भोगाः'[1]

अर्थात् सांसारिक सुख के हेतु, भोग कहलाते हैं। जिन-जिन कारणों से संसार का सुख प्राप्त होता है; वे सभी कारण, भोग हैं। इष्ट-मिष्ट-स्वादिष्ट आहार से लेकर शयन पर्यंत जिन भी पदार्थों से, क्रियाओं से और भावों से सांसारिक सुख की प्राप्ति होती है; वे सभी पदार्थ, क्रियाएँ एवं भाव, भोग हैं।

सांसारिक सुख अर्थात् सुखाभास (झूठा-सुख)। जो वास्तविक सुख नहीं है, वह सांसारिक सुख है। इसे ही आचार्य अपराजित सूरि इसप्रकार कहते हैं कि **'दुःख का प्रतिकार अर्थात् दुःखों को कम करना ही सुख है'**[2] अर्थात् **'कम दुःख'** का नाम ही **सुख** है। इसे ही सांसारिक सुख, इन्द्रिय सुख, भौतिक सुख, वैषयिक सुख इत्यादि शब्दों के माध्यम से कहते हैं और यह इन्द्रिय सुख, दुःख के बिना नहीं हो सकता है।[3]

जैसे तीव्र ज्वर से मंद ज्वर होने पर कहा जाता है कि ज्वर उतर गया, ठीक हो गया; परंतु वास्तव में वह ठीक नहीं हुआ; मात्र कम हुआ है। वैसे ही पहले तीव्र दुःख था, अब मंद हो गया है, उसे ही सुख

1. मूलाचार टीका (आचारवृत्ति), गाथा-81
2. भगवती अराधना (विजयोदया टीका), गाथा-1243
3. भगवती अराधना (विजयोदया टीका), गाथा-1243

कह देते हैं; परंतु वास्तव में वह सुख नहीं है; अपितु कम दुःख ही है। उस कम दुःख को ही सुख कहा जाता है और यही सांसारिक सुख, इन्द्रिय सुख, भौतिक सुख और वैषयिक सुख है।

सांसारिक सुख के हेतु ये पंचेन्द्रिय विषय हैं; इसलिए ये पंचेन्द्रिय विषय ही भोग हैं। भोग शब्द सुनते ही हमारे मन में स्पर्शन इन्द्रिय की मैथुन क्रिया ख्याल में आती है; परंतु मात्र इतना ही भोग नहीं है; पाँचों ही इन्द्रियों के विषय, भोग हैं। आचार्य देव इसे ही इसप्रकार कहते हैं –

'अपनी इच्छा से जो भोगे जाते हैं, वे **काम–भोग** हैं।'[1]

'सुख का साधन होने से मन में संकल्पित खान–पान आदि और स्त्री वर्ग आदि **काम–भोग** हैं।'[2]

कषाय – जब इंद्रियों की बात चलती है, तब मन का ग्रहण स्वयमेव हो जाता है। जैसे – इंद्रिय संयम में पाँच इंद्रियों के साथ एक मन को भी लिया जाता है, वैसे ही यहाँ इंद्रियों के अंतर्गत मन का ग्रहण भी हो जाता है तथा मन का जो विषय है, ऐसे कषायादि परिणामों का विषय शब्द के साथ ग्रहण हो जाता है। तभी तो विषय–कषाय दोनों को साथ में लिया जाता है।

विषय शब्द के साथ कषाय शब्द को ग्रहण करने का **दूसरा कारण** यह भी है कि निदान के भेदों में एक भेद विषय परक है, तो दूसरा भेद कषाय परक; इसलिए विषय के साथ कषाय शब्द का भी ग्रहण किया है।

संयोग – भोग के साथ संयोग का भी ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि निदान के भेदों में एक भेद संयोग परक भी है। यदि हम संयोग

1. भगवती अराधना (विजयोदया टीका), गाथा–202
2. भगवती अराधना (विजयोदया टीका), गाथा–202

को ग्रहण नहीं करते हैं, तो वह भेद छूट जाएगा; इसलिए संयोग का ग्रहण करना भी अति आवश्यक है।

संयोग की परिभाषा बताते हुए आचार्य वसुनंदी देव मूलाचार की टीका (आचारवृत्ति) में लिखते हैं –

'अनात्मनीनस्य आत्मभावः संयोगः'[1]

जो अपने नहीं हैं, उनमें आत्म–भाव होना संयोग है। यद्यपि सामान्यरूप से प्राप्त होने वाले सभी पदार्थ भी संयोग कहलाते हैं; तथापि आचार्य वसुनंदी स्वामी के अनुसार जिन पदार्थों में हमारा आत्म–भाव है, एकत्व–ममत्व–कर्तृत्व–भोक्तृत्व बुद्धि होती है; वे सभी पदार्थ, क्रियाएँ एवं भाव हमारे संयोग हैं। इनके अतिरिक्त जिन पदार्थों में हमारा आत्म–भाव नहीं है, वे हमारे संयोग भी नहीं हैं; जैसे–

गृहस्थों के लिए उनका घर, संयोग है; क्योंकि उनका उस घर में आत्म–भाव है; परंतु मुनिराजों के लिए वसतिका, संयोग नहीं है; क्योंकि पूज्य मुनिराजों का उसमें आत्म–भाव नहीं होता है।

इसी से यह भी प्रतिफलित होता है कि यदि हमारे आस–पास रहने वाले पदार्थों में आत्मभाव नहीं है, तो वे पदार्थ हमारे लिए संयोगरूप नहीं हैं; परंतु यदि दूर देश में स्थित पदार्थों में हमारा आत्म–भाव है, तो वे हमारे लिए संयोगरूप हैं।

अन्य विवक्षा से प्राप्त होने वाले सभी पदार्थ संयोग कहलाते हैं। इसके अनुसार मुनिराजों के लिए वसतिका, तीर्थंकरों के लिए समवशरण इत्यादि सभी संयोग हैं; परंतु विवक्षित विवक्षा के अनुसार जिन पदार्थों में आत्म–भाव रहता है, वे ही संयोग हैं, अन्य नहीं।

निदान में भोग पुण्य कर्मों का एवं भुगतान पाप कर्मों का होता है।

1. मूलाचार टीका (आचारवृत्ति), गाथा–48

*** भोग और संयोग में किंचित् अंतर है :–**

1. संयोग का विषय बड़ा है और भोग का विषय अपेक्षाकृत छोटा है।

2. संयोगों के अंदर भोग सम्मिलित हैं; परंतु भोगों के अंदर सभी संयोग सम्मिलित नहीं हैं।

3. संयोग में राग–द्वेष दोनों होते हैं; परंतु भोग में केवल राग ही होता है; क्योंकि 'भोग के समय चित्त राग से व्याकुल रहता है।'[1]

संयोग में शत्रु–मित्र दोनों होते हैं; परंतु भोग में केवल मित्र ही होता है; क्योंकि आत्मीयपना शत्रु–मित्र दोनों में हो सकता है, लेकिन सुख बुद्धि तो मित्र या राग के कारणभूत पदार्थों में ही हो सकती है।

इसप्रकार विषय–कषाय, भोग–संयोग से प्राप्त होने वाला सुख (सुखाभास, कम दुःख), भौतिक सुख है। ऐसे भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए निरंतर इच्छा करना ही निदान है; परंतु अभी भी निदान की परिभाषा पूर्ण नहीं हुई है। इसमें अभी एक महत्त्वपूर्ण पद शेष है, जो निम्नप्रकार से है–

4. आगामी काल :– आगामी काल अर्थात् भविष्य काल। यहाँ भविष्य काल से मरण के बाद प्राप्त होने वाला अगला भव अर्थात् परलोक मात्र का ग्रहण नहीं करना है; अपितु इहलोक (वर्तमान भव) में वर्तमान समय से आगे और मरण से पूर्व का काल भी ग्रहण करना।

इहलोक और परलोकरूप आगामी काल में भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अति आसक्ति पूर्वक निरंतर इच्छा करना, **निदान** है।

निदान की परिभाषा में से यदि 'आगामी काल' इस पद को हटा दिया जाए तो निदान की परिभाषा पूर्ण नहीं होगी; इसलिए

1. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा–1236

'आगामी काल' इस पद का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

आगामी काल इस पद का अंतर्भाव इच्छा शब्द में भी हो जाता है; क्योंकि इच्छा हमेशा आगामी काल के लिए ही होती है। इच्छा होती वर्तमान में है; परंतु इच्छा का जो विषय होता है, वह भविष्य काल से संबंध रखता है।

जो वर्तमान में हमारे पास नहीं है अथवा अल्प है या फिर जो है, उसे आगामी काल में बनाए रखने के लिए, प्राप्त करने के लिए या उसकी वृद्धि करने के लिए इच्छा होती है; क्योंकि वर्तमान में जो है, सो है; उसमें तो कुछ फेर–बदल हो नहीं सकता। जो भी फेर–बदल होगा, वह आगामी काल में ही होगा; इसलिए फेर–बदल की इच्छा में आगामी काल स्वयमेव समाहित हो जाता है।

इसलिए सभी आचार्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से आगामी काल को लिया है। रविषेण आचार्य, वसुनंदी आचार्य, अपराजित सूरि ने तो स्पष्टरूप से 'आगामी काल' पद का प्रयोग किया है; साथ ही अन्य आचार्यों ने भी 'ऐसा फल मिले', 'प्राप्त करने के लिए' इत्यादि शब्दों के माध्यम से परोक्षरूप में आगामी काल का ग्रहण किया है।

इहलोक–आकांक्षा और परलोक–आकांक्षा के सम्बन्ध में आचार्य वसुनंदि स्वामी आचारवृत्ति में लिखते हैं–

'जो इस लोक में – बलदेव, चक्रवर्ती आदि के राज्य की अभिलाषा करता है, राजश्रेष्ठी पद चाहता है, उसके वह इहलोक–आकांक्षा है। जो परलोक में – स्वर्ग आदि में देवपने की प्रार्थना होती है, उसके वह परलोक–आकांक्षा है – ये दोनों ही आकांक्षाएँ सम्यक्त्व का घात करती हैं अर्थात् इहलोक में मुझे षट्खंड का साम्राज्य, बलदेव

पद, राजश्रेष्ठी पद मिले और परलोक में मुझे इंद्र पद, सामान्य देवपद या महान ऋद्धिधारी देवपद तथा सुन्दर रूप मिले इत्यादि रूप से प्रार्थना करता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है; क्योंकि **कांक्षा निदान शल्यरूप है।**'[1]

आगामी काल में भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अति आसक्ति पूर्वक निरंतर इच्छा करना, निदान है।

इसप्रकार परिभाषा में आए हुए प्रत्येक पद की आवश्यकता को तर्क-युक्ति एवं आगम के आधार से देखा।

आचार्य अपराजित सूरी और आचार्य उमास्वाति के अनुसार 'इसका यह फल मुझे मिले' या 'साधना के फलरूप में सुखों की इच्छा करना' निदान है अर्थात् किन्हीं विशिष्ट भावों, क्रियाओं या साधना के फलरूप में इसका यह फल मुझे मिले - इसप्रकार लेन-देन की भावना करना भी निदान है।

आचार्य विद्यानंद स्वामी थोड़ी और गहराई में जाकर विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

'स्मृतियों का पुनः-पुनः अभ्यास वृत्त होकर उपजना, निदान है।'[2]

'स्मृतियों का एकाग्र उठते रहना, निदान नामक आर्त्तध्यान है।'[3]

यहाँ इच्छा (मन के एकाग्र उपयोग) को स्मृति शब्द से कहा गया है। इससे यह परिलक्षित होता है कि भूतकाल की यादों का पुनः-पुनः स्मरण करना, उन यादों में अपने मन को एकाग्र करना भी निदान है।

प्रश्न :- 'स्मृतियों का एकाग्र उठते रहना' इसमें आगामी

1. मूलाचार टीका (आचारवृत्ति), गाथा-250
2. तत्त्वार्थश्लोक वातिक, अध्याय-9, सूत्र-33 3. वही, अध्याय-9, सूत्र-33

कालादि चार बिंदु तो घटित होते ही नहीं हैं, फिर इसे निदान कैसे कह सकते हैं?

उत्तर :- 'स्मृति का एकाग्र उठते रहना' इसमें चारों ही बिंदु घटित होते हैं, जो इसप्रकार हैं -

स्मृति से 'मन का उपयोग' अर्थात् इच्छा का ग्रहण हो जाता है। स्मृति किसी न किसी विषय में होती ही है; अतः इससे 'भौतिक सुख' का ग्रहण हो जाता है। एकाग्र से निरंतरपने का ग्रहण हो जाता है। बीते हुए काल की अच्छी-बुरी घटनाओं को याद करने का प्रयोजन तो आगामी काल में कुछ अच्छा-बुरा करने का ही होता है; इसलिए आगामी काल का भी ग्रहण हो जाता है।

इसप्रकार 'स्मृतियों का एकाग्र उठते रहना' इसमें वे चारों ही विशेषता समाहित हो जाती हैं।

यहाँ **प्रश्न** हो सकता है कि इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर उनको प्राप्त करने की इच्छा होती है; यह तो इष्ट वियोगज नामक दूसरा आर्त्तध्यान है और इस निदान में भी इष्ट पदार्थों की इच्छा की जाती है, तो दोनों में क्या अंतर हुआ?

इसीप्रकार आचार्य विद्यानंद स्वामी तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक[1] में शंका उठाकर उसका समाधान करते हैं-

''**शंका :-** यहाँ निदान नामक चौथा आर्तध्यान, इष्ट वियोगज नामक दूसरे आर्त्तध्यान के अंदर ही गर्भित हो जाएगा; क्योंकि मनोज्ञ पदार्थ का विपरीत अर्थात् मनोज्ञ विषय का संयोग करने के लिए पुनः चिंताएँ रचना, दूसरा आर्त्तध्यान है। निदान में भी इष्ट विषयों के संयोग

1. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, अध्याय-7, सूत्र-33, पृ.291

हो जाने की चिंताएँ की जाती हैं; अतः दूसरे आर्त्तध्यान से ही चौथे आर्त्तध्यान का ग्रहण हो जाना सिद्ध है।

समाधान :– यह ठीक नहीं है; क्योंकि जो विषय **अब तक अनेक पर्यायों में प्राप्त नहीं हुए।** उन सुखावह विषय–भोगों की प्राप्ति के लिए निदान किया जाता है।

भविष्य सुख की प्राप्ति में एकाग्र लटक रहे मन का '**अपूर्व**' पदार्थ की प्रार्थना में अभिमुख बने रहने से निदान होता है और दूसरा आर्त्तध्यान तो कुछ काल तक भोगे हुए, प्राप्त किए हुए विषयों का दैव–दुर्विपाक के अनुसार वियोग हो जाने पर पुनः उनका संयोग हो जाने की इच्छा अनुसार प्रवर्तता है।

इसप्रकार जिन्हें आज तक नहीं भोगा, उनको प्राप्त करने की इच्छा का नाम **निदान** है और जो भोगकर, प्राप्त होकर छूट गए हैं, उन्हें पुनः प्राप्त करने की इच्छा का नाम **इष्ट वियोगज नामक दूसरा आर्त्तध्यान है।**"[1]

दूसरा अंतर यह है कि इष्ट वियोगज नामक दूसरे आर्त्तध्यान में वियोग की मुख्यता है और चौथे निदान आर्त्तध्यान में संयोग और वियोग दोनों की ही मुख्यता है।

इसलिए यहाँ पूर्व अनुभूत पदार्थ और अपूर्व पदार्थ – दोनों का ही ग्रहण किया गया है।

इसप्रकार निदान की परिभाषा में आगामी काल, भौतिक सुख, अति आसक्ति पूर्वक निरंतरता और आकांक्षा – ये चारों ही पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

चतुराई सो ही भली, आतम में चित दीन।
परधन परमन हरन कू, वेश्या हू परवीन।।

❊ निदान के भेद– प्रभेद :–

यह निदान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो[1] प्रकार का है–

1) प्रशस्त निदान 2) अप्रशस्त निदान

प्रशस्त निदान भी मोक्ष एवं संसार के भेद से दो प्रकार का है–

1) मोक्ष का कारणभूत प्रशस्त निदान

2) संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान

इसीप्रकार अप्रशस्त निदान भी कषाय और भोग के भेद से दो प्रकार का है–

1) कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान

2) भोग का कारणभूत अप्रशस्त निदान

किन्तु आचार्य शिवार्य भगवती आराधना[2] में निदान के कुल तीन भेद ही बतलाते हैं–

1) प्रशस्त निदान 2) अप्रशस्त निदान 3) भोगकृत निदान

यहाँ मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त निदान को निदान के रूप में स्वीकार नहीं किया है। केवल संसार के कारणभूत प्रशस्त निदान को ही प्रशस्त निदान कहा है तथा कषाय के कारणभूत अप्रशस्त निदान को अप्रशस्त निदान कहा और भोग के कारणभूत अप्रशस्त निदान को भोगकृत निदान कहा है।

दोनों कथनों में अंतर मात्र इतना ही है कि एक[3] आचार्य ने

1. सिद्धांतसार संग्रह (नरेंद्रसेनाचार्य), श्लोक–245-253 और अमितगति श्रावकाचार, अध्याय–7, श्लोक–20-22
2. भगवती आराधना, गाथा–26 और विजयोदया टीका, गाथा– 26, 1209
   तत्थ णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं।
   तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स।।1209।।
3. सिद्धांतसार संग्रह, श्लोक–245-253/अमितगति श्रावकाचार, अध्याय–7, श्लोक–20-22

मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों को निदान कहा है और दूसरे[1] आचार्य ने मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों को निदान नहीं कहा है। शेष भेद यथावत् हैं, मात्र शब्दों का अंतर है।

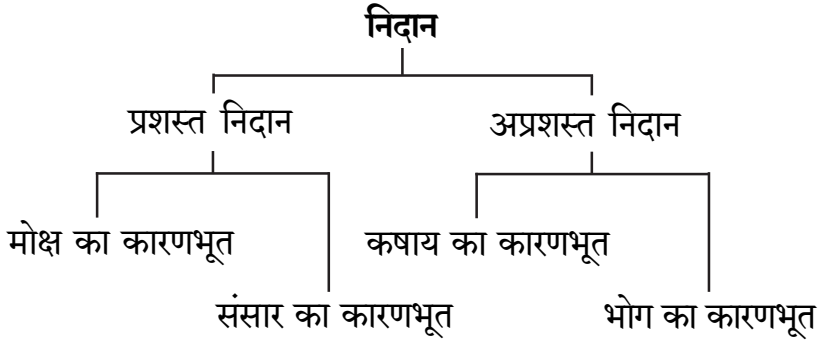

1) मोक्ष का कारणभूत प्रशस्त निदान :–

कर्मणां विच्युतिं बोधिं समाधिं भवदुःखतः।
हानिमाकांक्षतो मुक्तिहेतुभूतं निगद्यते।।248।।[2]

कर्मों का नाश, बोधि की प्राप्ति, समाधि, संसार दुःखों का नाश इत्यादि की चाह करना, मोक्ष का कारणभूत (प्रशस्त निदान) है।

जिन कारणों से निश्चितरूप से मोक्ष प्राप्त हो, उन कारणों को 'मोक्ष का कारणभूत' कहते हैं। कर्मों का नाश, बोधि की प्राप्ति इत्यादि के माध्यम से निश्चितरूप से मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिए इन्हें **मोक्ष का कारणभूत** कहा है।

वर्तमान में कर्मों का नाश, बोधि की प्राप्ति इत्यादि प्राप्त करने के शुभ भाव हैं; इसलिए **प्रशस्त** कहा है।

कर्मों का नाश, बोधि की प्राप्ति इत्यादि कारणों को प्राप्त करने की इच्छा होने से **निदान** कहा है।

1. भगवती आराधना, गाथा–26 और विजयोदया टीका, गाथा–26, 1209
2. सिद्धांतसार संग्रह (नरेंद्रसेनाचार्य), श्लोक–248

इसप्रकार जिन कारणों से निश्चितरूप से मोक्ष प्राप्त होने वाला है, ऐसे कारणों को शुभ भाव पूर्वक प्राप्त करने की इच्छा करना ही **मोक्ष का कारणभूत प्रशस्त निदान है।**

प्रश्न :– निदान हमारा अत्यंत समीप का शत्रु (दोष) है, हेय अर्थात् त्यागने योग्य है तो फिर क्या हम कर्म–नाश, बोधि–प्राप्ति आदि की भावना भी नहीं कर सकते हैं?

उत्तर :– कर्म नाश, बोधि को प्राप्त करने की भावना कर सकते हैं। इसकी उपादेयता को दिखलाते हुए आचार्य वसुनंदी स्वामी मूलाचार की टीका आचारवृत्ति की 107 वीं गाथा की उत्थानिका में लिखते हैं–

किंचिदपि निदानं न कर्तव्यं? कर्तव्यं चेत्याह –

क्या किंचित् भी निदान नहीं करना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि करना चाहिए, कुछ निदान तो कर सकते हैं। जैसे–

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा।।107।।[1]

अरहंत देव की जो गति हुई है, कृतकृत्य सिद्धों की जो गति हुई है तथा मोह रहित जीवों की जो गति हुई है, वही गति सदा के लिए मेरी हो।

ऐसी भावना करनी चाहिए; परंतु **प्रश्न** यह उठता है कि क्या ऐसी भावना, निदान है?

उत्तर :– हाँ! उक्त भावना निदानरूप है। यद्यपि मूल गाथा में तो निदान शब्द का प्रयोग नहीं किया है; किन्तु उत्थानिका में तो अवश्य ऐसी भावना को निदान कहा गया है। इसका अर्थ यही है कि उक्त भावना निदानरूप है।

1. मूलाचार, गाथा–107

प्रश्न :– यदि उक्त भावना निदान है तो कौन-से निदानरूप है? चार भेदों में से कौन-से भेदरूप है?

उत्तर :– गाथा में अरहंत, सिद्ध, वीतरागी बनने की भावना भाई है। अरहंत, सिद्ध, वीतरागी बनने के बाद निश्चित रूप से मोक्ष होता है और जो निश्चितरूप से मोक्ष प्राप्त कराते हैं, उन्हें मोक्ष का कारणभूत कहा जाता है अर्थात् इस गाथा में जो भावना भाई गई है, वह मोक्ष की कारणभूत है।

वर्तमान में जो ऐसी भावना भाई जा रही है, वह शुभभावरूप होने से प्रशस्त है और मोक्ष के लिए होने से मोक्ष के कारणभूत है तथा इच्छा होने से निदान है।

इसप्रकार मूलाचार की 107 वीं गाथा में मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त निदान की चर्चा है। जिसे उत्थानिका में उपादेय कहा गया है अर्थात् मोक्ष का कारणभूत प्रशस्त निदान करने योग्य है; परंतु वास्तव में तो यह मोक्ष की कारणभूत प्रशस्त भावना, निदान है ही नहीं।

आगे चलकर ग्रंथकार एवं टीकाकार स्वयं ही इसका निषेध करते हुए कहते हैं कि ऐसी (मोक्ष की कारणभूत प्रशस्त) भावना, निदान नहीं है; विकल्प मात्र है।

ग्रंथकार वट्टकेर आचार्य गाथा 568 में लिखते हैं–

आरोग्ग–बोहिलाहं दिंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा।
किं ण हु णिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायव्वा।।568।।

हे जिनेन्द्र देव! मुझे आरोग्य (जन्म-मरण का अभाव), बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें; क्या यह निदान नहीं है? नहीं! यह निदान नहीं है; इसे केवल विकल्प समझना चाहिए।

आरोग्य, बोधि और समाधि ये निश्चितरूप से मोक्ष प्राप्त कराने वाले हैं अर्थात् ये मोक्ष के कारणभूत तत्त्व हैं। वर्तमान में शुभ भावरूप होने से प्रशस्त हैं। इसप्रकार उक्त गाथा में मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों की चर्चा है।

पूर्वोक्त गाथा 107 में जिन मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों को निदान कहा था। उन्हीं मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों को यहाँ (568वीं गाथा में) सामान्य विकल्प मात्र कहा जा रहा है; निदान होने का निषेध किया है। आगे आचार्य देव स्वयं ही शंका उठाते हुए समाधान करते हैं –

शंका :– एतस्माच्चेदं निदानं न भवति यत्?

समाधान :– भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा एसा।
ण हु खीणरागदोसा दिंति समाहिं च बोहिं च।।566।।

शंका :– आखिर! ये मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भाव, निदान क्यों नहीं हैं? अर्थात् किस कारण से यह निदान नहीं है?

समाधान :– यह बोधि-समाधि की प्रार्थना असत्यमृषा भाषा है, यह मात्र भक्ति से कही गई है; क्योंकि जिनके राग-द्वेष नष्ट हो चुके हैं, वे जिनेन्द्र भगवान समाधि और बोधि को नहीं देते हैं। यदि वे देने का कार्य करेंगे तो राग-द्वेष सहित हो जाएँगे।

उनके द्वारा जो देने योग्य था, सो तो उन्होंने दे ही दिया। वह क्या है? सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रय का उपदेश है। हम लोगों के लिए इससे अधिक और क्या चाहिए अर्थात् कुछ नहीं; इसलिए यह समाधि और बोधि की प्रार्थना, भक्ति है।[1]

1. मूलाचार, गाथा-567

प्रश्न :– ऊपर कहा था कि बोधि-समाधि की प्रार्थना असत्यमृषा भाषा है तो यह असत्यमृषा भाषा क्या होती है?

उत्तर :– असत्यमृषा अर्थात् अनुभय वचन। जो वचन सत्य भी नहीं हैं और असत्य भी नहीं हैं, उन्हें अनुभय वचन अथवा असत्यमृषा भाषा कहते हैं।

विशेष का ज्ञान नहीं हो पाता; अतः उन्हें सत्य भी नहीं कह सकते हैं और सामान्य का ज्ञान होता रहता है; अतः उन्हें असत्य भी नहीं कह सकते हैं; इसलिए ऐसे वचनों को असत्यमृषा अथवा अनुभय वचन कहते हैं।[1]

ये अनुभय वचन 9 प्रकार के होते हैं और मुनिराजों को भाषा समिति में इन वचनों का बोलना वर्जित नहीं है अर्थात् वे बोल सकते हैं।[2]

'हे जिनेंद्र देव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ तथा समाधि प्रदान करें' यह वाक्य, **याचनी अनुभय वचन** का है। वास्तव में जिनेंद्र देव कुछ दे नहीं सकते हैं; अतः इस वाक्य को सत्य नहीं कह सकते हैं; परंतु पूर्व में इनका उपदेश अवश्य ही दिया था; अतः इन वचनों को असत्य भी नहीं कह सकते हैं। याचना पूर्वक वचन बोले हैं; इसलिए ये याचनी अनुभय वचन हैं।

ऐसे अनुभय वचन मुनिराज बोल सकते हैं; इसलिए जिनवरों और आचार्यों की भक्ति करना, निदान नहीं है। राग-द्वेष रहित अर्हंत देव में, धर्म में और द्वादशविध श्रुत में जो राग है – ये तीनों ही भक्ति हैं। आचार्यों में, श्रमणों में और चारित्र युक्त बहुश्रुत विद्वानों में जो राग है; यह प्रशस्त राग सभी सरागी (छठवें गुणस्थानवर्ती) मुनियों में होता है।[3]

1. मूलाचार टीका(आचारवृत्ति), गाथा-316
2. मूलाचार, गाथा-316 / भगवती आराधना, गाथा-1201
3. मूलाचार, गाथा-572,573

तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीय।
तो भत्ति रागपुव्वं वुच्चइ एदं ण हु णिदाणं।।574।।

उन जिनवर आदिकों के अभिमुख होने से उनकी तरफ अपने मन को लगाने से, उनकी भक्ति से वांछित इष्ट की सिद्धि हो जाती है, इष्ट मनोरथ[1] हस्तग्राह्य हो जाते हैं; इसलिए यह भक्ति रागपूर्वक ही होती है; परंतु निदानरूप नहीं होती है; क्योंकि इससे संसार के कारणों का अभाव होता है।

जिन प्रशस्त भावों के माध्यम से भगवान की भक्ति की जाती है; वे प्रशस्त भाव हैं तो राग ही; परंतु रागरूप होने पर भी निदान नहीं हैं; क्योंकि वे संसार के कारण नहीं हैं।

इससे सिद्ध होता है कि सभी राग भाव, इच्छा, निदान नहीं हैं; अपितु जो राग भाव, इच्छा, प्रशस्त भाव संसार (भौतिक सुख) के कारण हैं, वे ही निदान हैं।

प्रश्न :– यदि यह मोक्ष का कारणभूत प्रशस्त भाव निदान नहीं है, तो आचार्य नरेंद्रकीर्ति[2] और आचार्य अमितगति देव[3] ने इसे निदान क्यों कहा है? जब आचार्यों में ही परस्पर विरोध है, तब हम किन आचार्य के कथन को सत्य मानें?

उत्तर :– यहाँ दोनों कथनों में विरोध-सा प्रतीत होता है; परंतु विरोध है नहीं, मात्र विवक्षा भेद है और दूसरी बात यह है कि यदि कहीं दो कथनों में परस्पर विरोध दिखाई देता है, तो सर्वप्रथम यदि वहाँ तर्क-युक्ति सम्भव हो तो उनका प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा दोनों ही कथनों को स्वीकार करना चाहिए।

1. यहाँ लौकिक मनोरथों की बात नहीं है।
2. सिद्धांतसार संग्रह, श्लोक-245-253
3. अमितगति श्रावकाचार, अध्याय-7, श्लोक-20-22

''धवलादि ग्रंथों में भी इसीप्रकार की शंका उठाकर समाधान किया गया है, जो इसप्रकार है–

शंका :– दोनों कथनों में से एक ही सत्य होना चाहिए, अन्यथा संशय मिथ्यात्व हो जायेगा?

समाधान :– नहीं! यहाँ संशय मिथ्यात्व नहीं है; क्योंकि जो अरहंत देव के द्वारा कहा हुआ है, वही सत्य है। इसमें संदेह नहीं है। हम लोग छद्मस्थ हैं। हमारे द्वारा यह विवेक करना शक्य नहीं है कि इन दोनों में से कौन–सा सत्य है? इसलिए मिथ्यात्व के भय से दोनों का ही ग्रहण करना चाहिए अर्थात् यदि पहले कथन को सत्य कह दिया और दूसरा कथन सत्य निकला अथवा दूसरे कथन को सत्य कह दिया और पहला कथन सत्य निकला, तो हम मिथ्यादृष्टि हो जाएंगे; अतएव केवली, श्रुत–केवली के मिलने तक दोनों कथनों को ही मानना उचित है।''[1]

दूसरा प्रबल कारण यह है कि जहाँ स्याद्वाद का प्रयोग होता है, वहाँ विरोध नहीं होता है, मात्र अपेक्षा भेद होता है। इसीप्रकार यहाँ भी स्याद्वाद का प्रयोग होने से विरोध नहीं है, मात्र अपेक्षा भेद है। जो इसप्रकार है–

मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों को निदान कहने का कारण यह है कि कहीं–कहीं सामान्यरूप से इच्छा मात्र को निदान कह दिया जाता है और इन मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों में भी किसी न किसी रूप में इच्छा तो होती ही है; इसलिए मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों में इच्छा मात्र को लक्ष्य करके निदान कहा गया है; परंतु वास्तव में वे भाव संसार के कारणभूत नहीं होने से निदान नहीं हैं; अतः पूर्व में

1. मूलाचार प्रस्तावना, पृ.–17

निदान की परिभाषा में भौतिक सुख की इच्छाओं को ही निदान सिद्ध किया था, सर्व इच्छाओं को नहीं; क्योंकि भौतिक सुख की इच्छाएँ ही संसार का कारण हैं।

आचार्य नरेंद्रसेन देव स्वयं ही उक्त प्रशस्त भावों की उपादेयता बताते हुए लिखते हैं कि यह मोक्ष का कारणभूत प्रशस्त निदान पवित्र है, अनंत है, अद्वितीय है और मोक्ष प्राप्त कराने वाला[1] है। इसे ही आचार्य शिवार्य इसप्रकार कहते हैं–

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोधिलाभो य।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ।।1219।।

हमारे शारीरिक, आगंतुक और स्वाभाविक दुःखों का नाश हो तथा उनके कारणभूत कर्मों का क्षय हो। रत्नत्रय का पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षा की ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञान का लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है। इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करने योग्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों में इच्छा मात्र को लक्ष्य करके निदान कहा है; परंतु वास्तव में ये भाव संसार के कारण नहीं हैं; अतः निदान भी नहीं हैं; क्योंकि जो संसार के कारणभूत भाव होते हैं, वे ही निदान कहलाते हैं।

जन्म–मरण, क्षुधादि 18 दोष नष्ट हों, रागादि भावों का क्षय हो, अनादि की पराधीनता और मोहादि कर्मों का नाश हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो इत्यादि भाव, पवित्र हैं, अनंत हैं, अद्वितीय हैं और मोक्ष प्राप्ति कराने वाले हैं; अतः सम्यग्दृष्टि को करने योग्य हैं, उपादेय हैं।

1. सिद्धांतसार संग्रह, छंद–251

इसप्रकार मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भाव, निदान हैं या नहीं? तथा इसके स्वरूप सहित इसकी हेय-उपादेयता के ऊपर तर्क-युक्ति व आगम प्रमाण से चर्चा की।

2) संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान :-

देशं कालं भवं भावं क्षेत्र-मैश्वर्यमेव वा।
जिनधर्म प्रसिद्ध्यर्थं कांक्षतो वा दरिद्रिताम्।।249।।
संसार-हेतुकं तद्धि निदानं जिननायकैः।
कथितं हि यतो नैते जायन्ते संसृतिं विना।।250।।[1]

जैनधर्म की प्राप्ति होने के लिए योग्य देश, काल, भव, भाव (शुभ परिणाम), क्षेत्र, वैभव की चाह करना, संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान होता है; क्योंकि संसार के बिना ये देश-कालादि प्राप्त नहीं होते हैं - ऐसा जिननायकों ने कहा है।

इसे ही आचार्य शिवार्य भगवती आराधना में केवल प्रशस्त निदान कहते हैं-

संजमहेदुं पुरिसत्तसबलविरियसंघदणबुद्धी।
सावयबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं।।1210।।

संयम धारण करने के लिए अन्य जन्म में पुरुषार्थ, उत्साह, शरीर से उत्पन्न बल, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य, वज्रवृषभनाराच संहनन, उत्तम बुद्धि, श्रावक धर्म, धर्म में सहायी बंधुजन तथा निर्वाण के योग्य निर्मल कुल आदि की चाह करना, प्रशस्त निदान है।

निदान इस दूसरे भेद में इन्हीं संसार के कारणभूत संयोगों को प्राप्त करने की इच्छा की गई है; इसलिए इसे **संसार का कारणभूत** कहा है। 'संयम धारण करने के लिए, जिनधर्म की प्राप्ति हेतु' ऐसे शुभ

1. सिद्धांतसार संग्रह, छंद-249,250

परिणाम होने से **प्रशस्त** कहा और उक्त संयोगों को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होने से **निदान** कहा है।

प्रशस्त निदान का पहला भेद मोक्ष का कारणभूत है और यह दूसरा भेद संसार का कारणभूत है।

यहाँ मूल **प्रश्न** तो यही उठता है कि हम किसे मोक्ष का कारण कहें और किसे संसार का कारण कहें?

उत्तर :- इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए पहले **कारण के स्वरूप** को जानना आवश्यक है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक[1] में पंडित टोडरमलजी ने तीन प्रकार के कारण बताएँ हैं, जो निम्नप्रकार हैं -

1) जिसके सद्भाव में कार्य हो भी सकता है और नहीं भी; इसीप्रकार जिसके अभाव में कार्य हो भी सकता है और नहीं भी। जैसे- उपवास, क्षेत्र, तीव्र क्षयोपशम, शारीरिक बल इत्यादि द्वारा मोक्षप्राप्ति। (सद्भाव =✓/✗ ; अभाव =✓/✗)

2) जिसके सद्भाव में कार्य हो भी सकता है और नहीं भी; परंतु जिसके अभाव में कार्य हो ही नहीं सकता है। जैसे - मुनिदशा, वज्रवृषभनाराच संहनन, निर्वाण के योग्य निर्मल कुलादि द्वारा मोक्ष प्राप्ति। (सद्भाव =✓/✗ ; अभाव =✗)

3) जिसके सद्भाव में कार्य निश्चितरूप से होता ही है तथा जिसके अभाव में कार्य निश्चितरूप से होता ही नहीं है। जैसे - कर्मों का नाश, जन्म-मरण का अभाव, धर्म्य-शुक्ल ध्यान, सम्यक् रत्नत्रय की परिपूर्णता इत्यादि द्वारा मोक्ष प्राप्ति। (सद्भाव =✓ ; अभाव =✗)

1. मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय-9

उक्त तीनों कारणों में से तीसरा कारण, मोक्ष का यथार्थ कारण है; क्योंकि जिसके होने पर निश्चितरूप से मोक्ष होता ही है और नहीं होने पर नहीं होता है – वही मोक्ष का यथार्थ कारण है। जैसे – कर्म नाश होने पर निश्चितरूप से मोक्ष होगा और कर्म नाश नहीं होने पर निश्चित रूप से मोक्ष नहीं होगा; इसलिए कर्मों का नाश आदि, मोक्ष के कारण हैं। ऐसे तीसरे कारण को प्राप्त करने की भावना मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त निदान के अंतर्गत होती है।

शेष दो कारण (पहला और दूसरा) संसार के कारणभूत हैं; क्योंकि इनके होने पर मोक्ष निश्चितरूप से होगा ही, ऐसा नहीं है अर्थात् इन कारणों का मोक्ष के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है तथा इन कारणों को प्राप्त करने के बाद भी संसार में रुलना हो सकता है; इसलिए इन्हें संसार का कारण कहा।

निदान के इस दूसरे भेद में प्रथम दो कारणों को प्राप्त करने की इच्छा रहती है; इसलिए इस निदान को संसार का कारणभूत कहा है।

(पहला कारण) योग्य–देश, क्षेत्र, काल, भाव, शारीरिक बल, शारीरिक उत्साह, तीव्र क्षयोपशम, उत्तम बुद्धि, श्रावक धर्म, बंधुजन इत्यादि के मिलने पर मोक्ष हो भी सकता है और नहीं भी तथा इनके नहीं होने पर मोक्ष हो भी सकता है और नहीं भी। इसका अर्थ है कि ये मोक्ष के कारण नहीं हैं; इसलिए इन्हें संसार का कारण कहा।

(दूसरा कारण) वज्रऋषभनाराच संहनन, मुनिदशा (मात्र बाह्य दशा), योग्य कुलादि के बिना तो मोक्ष हो ही नहीं सकता; परंतु इनके होने पर मोक्ष हो भी सकता है और नहीं भी। इसका अर्थ है कि ये भी मोक्ष के यथार्थ कारण नहीं हैं; इसलिए इन्हें भी संसार का कारण कहा।

तात्पर्य यह है कि संसार के कारणभूत संयोगों को प्राप्त करने के लिए वर्तमान में शुभ परिणाम पूर्वक जो इच्छा की जाती है, वह संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि **प्रशस्त निदान की परिभाषा में जिसकी इच्छा की गई है, वह संयोग है।** विषय–कषाय–भोग नहीं है। यदि विषय–कषाय, भोग की इच्छा होती तो वह अप्रशस्त निदान होता; इसलिए निदान की परिभाषा में 'भौतिक सुख' इस पद से विषय–कषाय और भोग के साथ–साथ संयोग का भी ग्रहण किया था। जिससे यह (संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान) दूसरा भेद भी निदान सामान्य में गर्भित हो जाए।

प्रशस्त निदान में प्रशस्त भावों की चर्चा होती है। यहाँ **प्रशस्त भाव से तात्पर्य है कि निर्मल हृदय से, शुद्ध मनोवृत्ति से, बिना किसी कषाय के, भोगों की अभिलाषा से रहित जो भाव हैं, वे प्रशस्त भाव हैं।**

यदि इन प्रशस्त भावों के मध्य में किंचित् भी कषाय उत्पन्न हो जाए अर्थात् मान के लिए, क्रोध के लिए, भोग के लिए या अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए उक्त संयोगों की अभिलाषा करता है, तो फिर वह प्रशस्त निदान नहीं रहेगा। उसका स्तर गिरकर निम्न अप्रशस्त रूप हो जाएगा; इसलिए प्रशस्त निदान करने के लिए पूर्ण शुद्ध हृदय व निर्मल मनोवृत्ति होनी चाहिए।

प्रशस्त निदान की परिभाषा में आचार्य देव ने उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुभ भावों को दर्शा दिया है। निदान को पूर्ण रूप से छोड़ने के लिए ऐसे उत्कृष्टतम शुभ भावों को भी छोड़ना होगा।

जब संयम को धारण करने वाले उत्कृष्टतम शुभ भाव को

त्याज्य बतला दिया। तब उससे निम्न प्रकार के शुभ भावों का तो कहना ही क्या? अर्थात् वे तो उससे पहले छोड़ने योग्य हैं।

आगामी काल में अध्ययन, वैयावृत्ति, तप, प्रक्षाल-पूजन, दया-दानादि संयोगों को प्राप्त करने के लिए शुभ भाव पूर्वक जो तीव्र इच्छा की जाती है, वह भी निदान है।

पदार्थों में एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि होने के कारण हमारे चित्त को यह बात स्वीकार नहीं होती कि अध्ययन, वैयावृत्ति, तप, प्रक्षाल-पूजन, दया-दानादि संयोगों की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए; अपितु हमारा मन उल्टा ही **प्रश्न** पूछता है कि उक्त प्रकार की मनोवृत्ति क्यों नहीं करनी चाहिए? भला इनसे अच्छे भाव और कौन-से हो सकते हैं? और इनको करने में क्या हानि है?

इसका **समाधान** करते हुए आचार्य नरेन्द्रसेन देव कहते हैं कि 'यह संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान किंचित् दुःख का कारण है;' क्योंकि दया-दानादि और संयोग मोक्ष के कारणभूत नहीं हैं; अत: यह संसार का कारणभूत होने से दुःख का ही कारण है।

प्रश्न :- दुःख कैसा? अरे! इनको करने में तो लाभ ही लाभ है। आगामी काल में अध्ययन, वैयावृत्ति, तप, प्रक्षाल-पूजन, दया-दानादि का अवसर प्राप्त होगा। इसमें दुःख कैसा?

उत्तर :- सब परिणामों का वैचित्र्य है। लौकिक हो या पारलौकिक - दोनों में ही सुख-शांति का संबंध परिणामों के साथ है। परिणामों से ही सुख-शांति मिलती है और परिणामों से ही दुःख-दर्द मिलता है अर्थात् सुख-दुःख के कारण परिणाम ही हैं; कोई वस्तु या क्रिया नहीं। कहा भी है-

परिणामे बंधुजि कहिए, मोक्ख वि तह वियाणि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ, तह भावहु परियाणि।।14।।[1]
परिणाम से ही बंध है अर मोक्ष भी परिणाम से।
यह जानकर हे भव्यजन! परिणाम को पहचानिये।।14।।

हे जीव! परिणाम से ही बंध कहा है और परिणाम से ही मोक्ष कहा है; अतः तू इस बात को अच्छी तरह जानकर अपने भावों को पहिचान।

अभी वर्तमान समय में अध्ययन, वैयावृत्ति, तप, प्रक्षाल-पूजन, दया-दानादि के परिणाम हो रहे हैं और परिणामों सहित इनमें प्रवृत्ति भी कर रहे हैं; इसलिए अभी ये कार्य अच्छे लग रहे हैं और इन्हीं कार्यों को करते हुए ऐसी भावना करें कि आगामी काल में हमें ऐसे ही संयोग मिलें। अध्ययन का अवसर, प्रभावना की शक्ति, प्रक्षाल-पूजन का लाभ मिले इत्यादि भावना करें तो उससे निदान बंध होगा और बंध होगा, सो उदय में भी अवश्य आएगा।

बंध होने के पश्चात् पूर्व की निदान-भावना (बंध) के अनुसार संयोग मिलना तो निश्चित है; परंतु पूर्व के जैसे परिणाम हों, यह निश्चित नहीं है; क्योंकि परिणाम स्थिर नहीं होते हैं, निरंतर बदलते रहते हैं, सदैव एक समान नहीं रहते हैं।

आगम में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो अपने वर्तमान परिणामों से सातवें नरक जाने की योग्यता रखते थे, वे ही अंतर्मुहूर्त बाद मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

अशुभ से शुभ परिणामों का उदाहरण - 'एक मुनिराज वृक्ष के नीचे बैठकर आत्मसाधना कर रहे थे। तभी किसी ने केवली से पूछा कि यदि अभी इन मुनिराज का मरण हो, तो पूज्य मुनिवर कहाँ जाएंगे?

1. योगसार, दोहा-14

केवली बोले भले ही अभी इनके वर्तमान परिणाम 7वें नरक ले जाने की योग्यता रखते हों; परंतु अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ये पूज्य मुनिवर आत्मस्थिरता पूर्वक अनन्त आनंद के धाम मोक्षपुरी का वरण करेंगे।'[1]

जिसप्रकार अशुभ परिणामों से शुभ परिणाम होने में देर नहीं लगती; उसीप्रकार शुभ परिणामों से अशुभ परिणाम होने में भी समय नहीं लगता।

शुभ से अशुभ परिणामों का उदाहरण – 11वें गुणस्थानवर्ती पूर्ण वीतरागी उपशमक भी आगामी कुछ क्षणों में मिथ्यात्व की भूमि पर आ गिरते हैं। यह सब परिणामों की क्षणभंगुरता ही तो है।[2]

इसप्रकार पूर्व के निदान बंधानुसार संयोग तो मिल जाएंगे; परंतु पूर्व जैसे परिणाम रहेंगे या नहीं – किसी को ज्ञात नहीं हैं? क्योंकि परिणाम क्षणभंगुर हैं। पूर्व के समान वर्तमान में परिणाम न रहे तो दु:खी ही होना पड़ेगा; क्योंकि परिणामों से ही सुख-दु:ख होता है।

एक ही महाविद्यालय में अनेक छात्र पढ़ते हैं, उनमें से कुछ छात्र तो पूर्ण रुचि के साथ स्वेच्छा से समस्त कक्षाओं में उपस्थित होकर लाभ लेते हैं और लाभ लेते हुए मजा करते हैं; परंतु कुछ विद्यार्थी रुचि के साथ स्वेच्छा से समस्त कक्षाओं का लाभ नहीं लेते हैं और जिन कक्षाओं में उपस्थित होते हैं, उनमें भी अध्यापक जबरदस्ती भेजते हैं, ऐसे विद्यार्थी स्व-रुचि (परिणाम) के अभाव में कक्षा में बैठकर भी बंधन का अनुभव करते हैं, दु:खी होते हैं और पूरी कक्षा में यही विचार करते रहते हैं कि कक्षा कब छूटेगी? यहाँ से कैसे

1. बोधि समाधि निधान, पृ.171 (उत्तरपुराण-स्वेतवाहन मुनिराज की कथा)
2. मोक्षमार्ग प्रकाशक, अधिकार-7, पृ.265

भागूँ? परंतु भाग नहीं पाता, बिना मन के कक्षा में बैठना ही पड़ता है और महा-व्याकुल होता है।

ऐसा क्यों होता है?

पूर्व में शुभ परिणाम पूर्वक अथवा किसी कषाय के वश कदाचित् ऐसा निदान किया हो कि हम एक बड़े महाविद्यालय में पढ़े और सम्पूर्ण कक्षाओं का लाभ लें – इसप्रकार निदान भाव किया था तथा पुण्यानुसार उसका बंध भी हो गया। बंध हुआ है, तब उदय में आएगा ही; इसलिए वर्तमान में ऐसे संयोग मिल गए, जिन्हें भोगना पड़ रहा है; परंतु परिणामों (रुचि) के अभाव में उन संयोगों में बंधन का अनुभव करता है और निरंतर दु:खी होता है, रोता है।

इसप्रकार कितने ही अच्छे संयोग क्यों न हों; उनकी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि ये संयोग संसार के कारण हैं और दु:ख देने वाले हैं; अतः सभी प्रकार के संयोगों की अभिलाषा छोड़ने योग्य ही है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अध्ययन, वैयावृत्ति, तप, प्रक्षाल-पूजन, दया-दानादि करने का निषेध नहीं है; अपितु इनके संबंध में निदान करने का निषेध है।

इसीप्रकार उत्कृष्टतम भाव संयम धारण करने की अभिलाषा भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह निदान संसार का कारण है।

प्रश्न :– संयम को धारण करने की इच्छा संसार की कारणभूत और किंचित् दु:ख को देने वाली कैसे हो सकती है? वह तो मोक्षमार्ग का एक अंश है?

उत्तर :– यहाँ संयम को संसार का कारणभूत और किंचित् दु:ख को देने वाला नहीं कहा। यहाँ तो तत्संबंधी जो निदान भाव है, उसको संसार का कारणभूत और किंचित् दु:ख को देने वाला कहा है।

कैसे? सो बताते हैं–

अभी तो हमने भाव पूर्वक उत्कृष्ट संयम की भावना भा ली और उससे निदान बंध कर लिया। जब उसका उदय आएगा, तब ऐसे ही परिणाम होंगे, ऐसा नहीं कह सकते हैं और उस दशा के योग्य परिणामों के अभाव में अनेक दुःख–दर्द को सहन करते हुए महाकष्ट को उठाना पड़ेगा।

संयम दशा के योग्य परिणाम न होने से उनमें निरंतर अतिचार लगते रहेंगे। वे ही अतिचार, अनाचार के रूप में परिवर्तित होकर संयम दशा से भ्रष्ट कर देंगे और जो संयम भाव से भ्रष्ट हैं, उनकी दुर्गति होती है। इसी सम्बन्ध में आचार्य वट्टकेर स्वामी मूलाचार में लिखते हैं कि–

कंदप्पमाभिजोग्गं किव्विस सम्मोहमासुरत्तं च।
तादेवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति।।63।।

मरण काल में विराधना के हो जाने पर कांदर्प, आभियोग्य, किल्विषक, स्वमोह और आसुरी – ये देव दुर्गतियाँ होती हैं।

इसीप्रकार आचार्य कुंदकुंद देव भी अष्टपाहुड़ और समयसार ग्रन्थ में कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हुए लिखते हैं –

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणं विहूणं।
संजमहीणं य तवो जइ चरई णिरत्थयं सव्वं।।5।।[1]
वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विन्दन्तिं।।153।।[2]
दर्शन रहित यदि वेश हो चारित्र विरहित ज्ञान हो।
संयमरहित तप निरर्थक आकाश कुसुम समान हो।।5।।
व्रत नियम सब धारण करें, तप शील भी पालन करें।
पर दूर हो परमार्थ से, ना मुक्ति की प्राप्ति करें।।153।।

1. अष्टपाहुड(शीलपाहुड) गाथा–5 2. समयसार(पुण्यपापाधिकार), गाथा–153

अर्थात् चारित्र हीन ज्ञान निरर्थक है, सम्यग्दर्शन (परिणाम) के बिना लिंग–ग्रहण अर्थात् नग्न दिगम्बर दीक्षा लेना निरर्थक है और संयम बिना तप निरर्थक है।

शील–तप को करते हुए भी, व्रत–नियम को धारण करते हुए भी जो जीव परमार्थ (शुद्ध परिणाम) से बाह्य हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती है।

इसप्रकार अन्तरंग परिणामों के बिना केवल बाह्य क्रिया, संयोग कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं।

निदान बंध केवल संयोग दे सकता है, परिणाम नहीं और संयोगों का मोक्षमार्ग में किंचित् मात्र भी स्थान नहीं है; इसलिए संयोगों की चाह संसार का ही कारण है और दुःख देने का प्रबल साधन है।

प्रश्न :– मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त भावों में कर्मों का नाश, बोधि की प्राप्ति इत्यादि की भावना कर सकते हैं – ऐसा कहा था। बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है तथा सम्यक्चारित्र में ही संयम दशा, मुनिचर्या आती है। फिर सम्यक्चारित्र की भावना कर सकते हैं और संयम दशा, मुनिचर्या की नहीं – दोनों में ऐसा अंतर क्यों?

उत्तर :– पहली बात तो यह है कि संयम दशा, मुनिचर्या धारण करने का निषेध नहीं है; परंतु तत्संबंधी इच्छारूप निदान का निषेध है।

दूसरी बात यह है कि सम्यक्चारित्र दो प्रकार का होता है–

1) निश्चय सम्यक्चारित्र

2) व्यवहार सम्यक्चारित्र

अभ्यन्तर तीन कषाय चौकड़ी के अभाव पूर्वक प्रकट हुई वीतराग परिणति का नाम निश्चय सम्यक्चारित्र है। ऐसे निश्चय सम्यक्चारित्र के

साथ जो बाह्य में मुनिदशा (द्रव्यलिंग) होती है, वह व्यवहार चारित्र है।

हम अल्पज्ञ जीव निश्चय चारित्र को देख नहीं सकते हैं, मात्र बाह्य में दिखने वाली मुनिदशा (द्रव्यलिंग) को ही देख सकते हैं; इसलिए यहाँ केवल बाह्य में दिखने वाली मुनिदशारूप व्यवहार चारित्र को ही उपचार से प्रशस्त निदान में कहा है।

निश्चय चारित्र का मोक्ष के साथ अविनाभाव संबंध है; परंतु व्यवहार चारित्र का नहीं अर्थात् निश्चय चारित्र के होने पर मोक्ष होगा ही होगा और निश्चय चारित्र के अभाव में नियम से मोक्ष नहीं होगा तथा व्यवहार चारित्र के नहीं होने पर मोक्ष नियम से नहीं होगा; परंतु व्यवहार चारित्र (बाह्य मुनिदशा) के होने पर मोक्ष हो भी सकता है और नहीं भी; इसलिए व्यवहार चारित्र का मोक्ष के साथ अविनाभाव संबंध नहीं है।

जब बोधि कहते हैं तब निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ निश्चय-चारित्र का ग्रहण करना चाहिए और जब संयम दशा, मुनिचर्या कही जाती है, तब व्यवहार-चारित्र का ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न :- इसका अर्थ यह हुआ कि जो अभ्यंतर सहित बाह्य मुनिदशा है, उसकी अभिलाषा कर सकते हैं क्या?

उत्तर :- नहीं! अभ्यंतर कारणों की तो बहिरंग कारणों के साथ व्याप्ति है; परंतु बहिरंग कारणों की अभ्यंतर कारणों के साथ व्याप्ति नहीं है अर्थात् अभ्यंतर कारणों के होने पर बहिरंग कारण होंगे ही; परंतु बहिरंग कारणों के होने पर अभ्यंतर कारण होंगे ही - ऐसा आवश्यक नहीं है तथा **कार्य सिद्धि तो अभ्यंतर कारणों से ही होती है।**

अभ्यंतर कारणों के मिलने पर बहिरंग कारण का मिलना तो

सहज ही है; इसलिए केवल मोक्ष के साथ अविनाभाव संबंध रखने वाले अभ्यंतर कारणों की ही प्रार्थना करनी चाहिए, बहिरंग कारणों की नहीं।

तात्पर्य यह है कि अत्यंत मंद कषायरूप प्रशस्त परिणामों सहित बिना किसी स्वार्थ भावना के जो मोक्ष के अविनाभावी नहीं हैं; ऐसे संयोगों की चाह करना, संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान है। जो किंचित् दुःख को देने वाला होने से त्याज्य ही है।

इसप्रकार निदान के इस दूसरे भेद का स्वरूप, कारण के प्रकार, संसार का कारणभूत किसे कहना? इसमें होने वाले जीवों के परिणामों का स्तर व इसकी हेयता को अनेक तर्क-युक्ति व आगम के आधार से समझा।

3) कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान :-

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं।
सोभग्गाणादेयंपत्थंतो अप्पसत्थं तु ।।1211।।[1]

मान कषाय के वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्य पद, गणधर पद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा, आदेय आदि को प्राप्त करने की प्रार्थना करना (कषाय का कारणभूत) अप्रशस्त निदान है।

निदान के इस तीसरे भेद में मानादि कषायों के वशीभूत होकर इच्छा की जाती है; इसलिए इसे **कषाय का कारणभूत** कहा है। कलुषित अभिप्राय के पोषण हेतु अशुभ परिणाम होने से **अप्रशस्त** कहा तथा उक्त संयोगों को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होने से **निदान** कहा है।

परिभाषा में आया '**मान**' शब्द कषायों के प्रतिनिधि के रूप में है अर्थात् इस मान शब्द से क्रोध, माया, लोभ, हास्यादि सर्व कषायों का ग्रहण करना चाहिए। जैसे - क्रोध कषाय के वश, माया कषाय के

1. भगवती आराधना, गाथा-1211

वश, लोभ कषाय के वश, हास्य कषाय के वश, रति कषाय के वश आदि से उत्तम जाति इत्यादि की प्रार्थना करना, कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान है।

यहाँ **प्रश्न** हो सकता है कि कषायों में तीन वेदरूप नोकषाय तो भोग के कारण हैं। फिर यहाँ अभिमान शब्द से सर्व कषायों का ग्रहण कैसे किया जा सकता है?

समाधान :– मूल में तीनों वेद कषायरूप हैं; अतः वेद भी कषाय के कारणभूत अप्रशस्त निदान में कारण हैं।

भोगों में भी वेदों की प्रवृत्ति देखी जाती है – इसका अर्थ यह है कि वेद कषाय और भोग दोनों में ही कारण बनते हैं; इसलिए जब कषाय की मुख्यता होगी, तब वेदों को कषायों का कारण कहा जाएगा और जब भोग की मुख्यता होगी, तब वेदों को भोगों का कारण कहा जाएगा। यहाँ कषायों की मुख्यता होने से सर्व कषायों में तीनों वेदों का भी ग्रहण किया है।

कषाय प्रति समय होती हैं; परंतु भोग प्रति समय नहीं होते हैं, इसलिए भी वेदों का प्रथम ग्रहण कषायों में ही होगा।

इसप्रकार अभिमान शब्द से सर्व कषायों का ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न :– यदि यहाँ सर्व कषायों का ही ग्रहण करना था तो क्रोधादि शब्द का प्रयोग करना चाहिए था; क्योंकि लगभग सर्वत्र क्रोध कषाय का प्रथम प्रयोग किया जाता है और प्रतिनिधि के रूप में भी क्रोध कषाय को ही रखा जाता है। फिर यहाँ मान कषाय का प्रयोग क्यों किया?

उत्तर :– क्रोधादि चारों कषाय चारों ही गतियों में होती हैं, तथापि प्रत्येक गति में किसी एक कषाय की मुख्यता देखी जाती है।

जैसे – तिर्यंच गति में माया की, नरक गति में क्रोध की, मनुष्य गति में मान की और देव गति में लोभ की मुख्यता देखी जाती है।

आचार्य देव के समक्ष मनुष्य गति के जीव बैठे हुए थे; अतः उन्होंने मनुष्यों को समझाने के लिए मान कषाय का आधार लिया।

यहाँ एक **प्रश्न** सम्भव है कि मनुष्य में तो क्रोध, माया, लोभ, हास्यादि सर्व कषायों की बहुलता पाई जाती है। अपना पूरा जीवन धन के लोभ में लगा देते हैं और गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा भी है कि 'मनुष्य और तिर्यंच गति में लोभ कषाय का काल सर्वाधिक होता है और सबसे कम काल मान कषाय का होता है'[1] फिर मान कषाय की ही मुख्यता क्यों कही?

समाधान :– जहाँ गोम्मटसार ग्रंथ में काल की अपेक्षा लोभ कषाय की मुख्यता कही, वहीं गोम्मटसार जीवकाण्ड की टीका जीवतत्त्व प्रदीपिका में द्वितीय सिद्धांत ग्रंथ कषायप्राभृत के अनुसार प्रथम समय की अपेक्षा मनुष्य गति में मान की मुख्यता कही है, जो इसप्रकार है–

नारकतिर्यग्नरसुरगत्युत्पन्न–जीवस्य तद्भव–प्रथमकाले–प्रथमसमये यथासंख्यं क्रोधमायामानलोभकषायाणामुदयः स्यादिति नियमवचनं कषायप्राभृत–द्वितीयसिद्धांत–व्याख्यातुर्यतिवृषभाचार्यस्य अभिप्रायमाश्रित्योक्तं। वा–अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत–प्रथमसिद्धांतकर्तुः भूतवल्याचार्यस्य अभिप्रायेणानियमो ज्ञातव्यः। प्रागुक्तनियमं बिना यथासंभवं कषायोदयोऽस्तीत्यर्थः।[2]

अर्थ :– नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव में उत्पन्न हुए जीव के प्रथम समय में क्रमशः क्रोध, माया, मान व लोभ का उदय ही होता है।

1. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा–298
2. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका–288 गाथा)

सो ऐसा नियम कषायप्राभृत दूसरे सिद्धांत के कर्ता यतिवृषभाचार्य के अभिप्राय से जानना; परंतु महाकर्म प्रकृति प्राभृत प्रथम सिद्धांत के कर्ता भूतबलि नामक आचार्य के अभिप्राय अनुसार पूर्वोक्त नियम नहीं है। जिस तिस किसी एक कषाय का भी उदय हो सकता है।

इसीप्रकार धवला में भी प्रथम समय की मुख्यता से कषायों का निरूपण किया है, जो निम्नप्रकार है–

णिरयगदीए....उप्पण्णजीवाणं पढमं कोधोदयस्सुवलंभा। ....मणुसगदीए....माणोदय। ...तिरिक्खगदीए...मायोदय। ....देवगदीए...लोहोदओ होदि त्ति आइरियपरंपरागदुवदेसा।[1]

अर्थः– नरकगति में उत्पन्न जीवों के प्रथम समय में क्रोध का उदय, मनुष्यगति में मान का, तिर्यंचगति में माया का और देवगति में लोभ के उदय का नियम है – ऐसा आचार्य परंपरागत उपदेश है।

इसप्रकार यह बात आगम प्रमाण के साथ अनुभव सिद्ध भी है। यद्यपि मनुष्य गति में क्रोधादि सर्व कषायों की बहुलता देखी जाती है; तथापि यहाँ मान कषाय की मुख्यता के साथ कथन है।

यह जीव छोटी से छोटी क्रिया में भी मान चाहता है। बैठते, उठते, हिलते, सोते आदि प्रत्येक समय अभिमान को चाहता है। जगत मुझे देखे कि मैं कैसे बैठता हूँ? कैसे खड़ा होता हूँ? कैसे चलता, खेलता, बोलता हूँ? किसी को धन्यवाद कहता है तो मान कषाय के पोषण के लिए, किसी को शुभकामनाएँ भी देता है, तो मान कषाय की वृद्धि के लिए।

यदि आपने शुभकामनाएँ देने वाले को धन्यवाद नहीं बोला तो आगे से वह आपको शुभकामनाएँ नहीं देगा; क्योंकि आपने धन्यवाद

1. धवला पुस्तक–4, सूत्र–250, पृ.445 (जैनेन्द्र सिद्धांत कोश)

बोलकर उसके मान कषाय की पुष्टि नहीं की; इसलिए वह आपको आगे से शुभकामनाएँ नहीं देगा।

इसीप्रकार किसी ने अपनी उपलब्धि आपको बताई और आपने उसको शुभकामनाएँ नहीं दीं तो वह आपको आगे से अपनी उपलब्धि नहीं बताएगा; क्योंकि आपने शुभकामनाएँ देकर उसके मान कषाय की पूर्ति नहीं की।

जीव की इस परिणति को देखकर हास्य मिश्रित आश्चर्य होता है कि शुभकामनाएँ देने वाला धन्यवाद बोलने वाले से मान चाहता है और धन्यवाद बोलने वाला शुभकामनाएँ देने वाले से मान चाहता है।

यद्यपि एक दूसरे को प्रणाम करना विनय का प्रतीक है; तथापि यह प्रणाम (जय जिनेन्द्र) करने–कराने में भी मान चाहता है। इस बात का पता तब चलता है, जब हम किसी को प्रणाम करें और वह न करे...।

अरे! वक्ता श्रोता से और श्रोता वक्ता से अभिमान चाहता है। परस्पर ही इतरेतराश्रय दोष की भाँति एक–दूसरे से अभिमान की अभिलाषा रखता है।

इतना ही नहीं, यह तो विषय–भोगों को भोगते हुए भी मान चाहता है कि मेरे जैसे विषय–भोग कोई नहीं भोगता, मेरा तरीका ही अलग है इत्यादि। इसप्रकार मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में मान ही झलकता है।

अरे! पहले इसका तो विचार कर कि मान है क्या? जिसके पीछे तू भागा ही चला जा रहा है।

एकप्रकार से लोगों के **ज्ञान का ज्ञेय बनने की इच्छा** को भी मान कहा जा सकता है।

'सब लोग मुझे जानें' इसप्रकार अभिमान चाहता है। अधिक से अधिक लोग मुझे अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाएँ; बस इसके पीछे ही दिन-रात एक करने में लगा हुआ है।

जैसे-जैसे यह आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे इसके तेवर भी चढ़ते जाते हैं। पहले चाहता था कि सब मुझे जानें। जब सब इसको जानने लगे तो चाहता है कि मुझे याद रखें, अपनी **धारणा** में बिठाएँ।

केवल धारणा में रखने से क्या होगा? इसलिए चाहता है कि सब मुझे याद **(स्मरण)** करें। यदि कोई इसको याद करके इसके हाल-चाल नहीं पूछता; तब उससे नाराज होकर कहता है कि आपने मुझे याद नहीं किया; परंतु वास्तविकता तो यह है कि इसके मान कषाय की पूर्ति नहीं हुई; इसलिए नाराज और दु:खी होता है।

अरे! आपके स्मरण मात्र से भी क्या होगा? इसलिए चाहता है कि आप मेरा बड़ी-बड़ी सभाओं में बढ़-चढ़कर **गुणगान** करो। इतना ही नहीं मेरा जैसा गुणगान किया है, वैसा गुणगान अन्य किसी का नहीं होना चाहिए। मेरी तुलना दूसरों से करो **(प्रत्यभिज्ञान)**, मुझे दूसरों से अच्छा देखो और कहो। सभा, पत्रिकादि में सबसे ऊपर मेरा नाम होना चाहिए।

अभी भी इसके मान की पूर्ति नहीं हुई; इसलिए चाहता है कि मेरा सम्मान करो, मालादि से स्वागत करो अर्थात् मान के लिए **संयोग** को भी एकत्रित करना चाहता है इत्यादि।

तात्पर्य है कि यह **ज्ञान, धारणा, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, वचन, संयोग इत्यादि** के माध्यम से अनेक रूपों में दूसरों के ज्ञान का ज्ञेय मात्र बनना चाहता है।

पर यह भूल जाता है कि प्रमेयत्व नाम का सामान्य गुण सभी द्रव्यों में है। सभी द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान के ज्ञेय अवश्य बनते हैं और बन भी रहे हैं; फिर भी तू किसी के ज्ञान का ज्ञेय बनना चाहता है, तो इसमें विशेष क्या है?

इसप्रकार यह मान को जाने बिना ही उसके पीछे भागा चला जा रहा है और उन्हीं मानादि कषायों के वशीभूत होकर यह अप्रशस्त निदान करता है; इसलिए मनुष्य गति में मान कषाय की मुख्यता कही है और परिभाषा में मनुष्य को लक्ष्य करके कषायों के प्रतिनिधि के रूप में मान कषाय को रखा है।

उत्तम कुलादि :- मान कषाय की पूर्ति के लिए उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्तम रूप की अभिलाषा करता है। जन्म होने के साथ जाति, कुल और रूप - ये तीनों अवश्य प्राप्त होते हैं। माता से जाति, पिता से कुल और स्वयं का रूप लेकर ही जन्म लेता है।

इन तीन के साथ अन्य अनेक संयोग भी प्राप्त होते हैं; परंतु जन्म के साथ ये तीन मुख्यरूप से देखने में आते हैं; अतः परिभाषा में जाति, कुल और रूप को लिया है।

मेरी पहचान मेरी जाति, कुल और रूप से हो इत्यादि प्रकार की इच्छा करना कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान है।

जिनपद (तीर्थंकर पद[1]) :- अभिमान के लिए तीर्थंकर पद की चाह करना, कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान है।

यहाँ सहज ही **जिज्ञासा** उत्पन्न होती है कि जिनपद (तीर्थंकर पद) तो साक्षात् मोक्ष को देने वाला है, कल्याणकारी है, दु:ख को मेटने

1. भगवती आराधना की भाषा टीका में पंडित सदासुखदासजी ने 'जिणत्तं' का अर्थ 'तीर्थंकर पद' किया है।

वाला है; फिर उसे यहाँ अप्रशस्त निदान के अंतर्गत क्यों लिया?

समाधान :– तीर्थंकर पद तो साक्षात् मोक्ष को देने वाला है, कल्याणकारी है, दु:ख को मेटने वाला है। ऐसे तीर्थंकर पद को अप्रशस्त निदान नहीं कहा। यहाँ तो तीर्थंकर पद को प्राप्त करने की जो तीव्र इच्छा है, उसे अप्रशस्त निदान कहा है।

प्रश्न :– जैसे संयम धारण करने की भावना को प्रशस्त निदान में लिया था। वैसे ही तीर्थंकर बनने की भावना को भी प्रशस्त निदान में लेना चाहिए था; क्योंकि तीर्थंकर पद से भी मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिए प्रशस्त निदान कहना चाहिए था।

उत्तर :– संयम धारण करने की भावना के पीछे इसका अभिप्राय कलुषित नहीं था, किसी कषाय के वशीभूत होकर इसने संयम धारण करने की इच्छा नहीं की थी; अपितु एकदम विशुद्ध भावों से बिना किसी स्वार्थ के संयम की प्रार्थना की थी; इसलिए उसे प्रशस्त निदान में लिया है; परंतु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तीर्थंकर पद को प्राप्त करने की इच्छा के पीछे इसका कलुषित अभिप्राय है, कषायें छुपी हुई हैं। यह तीर्थंकर पद मान कषाय की पूर्ति के लिए चाहता है, मोक्ष जाने के लिए नहीं; इसलिए तीर्थंकर पद प्राप्त करने की इच्छा को अप्रशस्त निदान में लिया।

यदि इसे मोक्ष प्राप्त करने की भावना होती, तो यह तीर्थंकर पद को ही क्यों चाहता? क्योंकि मोक्ष का तीर्थंकर पद के साथ अविनाभाव संबंध नहीं है अर्थात् मोक्ष होगा तो तीर्थंकर बनकर ही होगा, ऐसा नहीं है। हाँ! इतना अवश्य है कि तीर्थंकर बनने पर मोक्ष निश्चितरूप से होगा; परंतु तीर्थंकर बनने पर ही होगा, ऐसा नहीं है।

सामान्य केवली होकर भी तो मोक्ष जाया जा सकता है; क्योंकि केवली का मोक्ष के साथ अविनाभाव संबंध है अर्थात् केवली होंगे, तो नियम से मोक्ष होगा ही और केवली नहीं होंगे, तो नियम से मोक्ष नहीं होगा; इसलिए मोक्ष की व्याप्ति केवलीपने से है, न कि तीर्थंकरपने से।

सामान्य केवली बनने में अधिक सुलभता है; क्योंकि हर 6 महीने 8 समय में 608 जीव मोक्ष जाते हैं, तो इसमें इसका नंबर लगना सुलभ है; परंतु यदि यह तीर्थंकर बनना चाहे, तो इसे कितने वर्षों, पल्यों, सागरों तक का इंतजार करना पड़ सकता है।

अब जरा विचार करें कि यदि यह तीर्थंकर बनकर मोक्ष जाना चाहता है, तो इसका नंबर कितने लंबे काल में आएगा; तब तक संसार में ही मरीचि के समान भ्रमण करना पड़ेगा।

इसका अर्थ हुआ कि यह तीर्थंकर पद मोक्ष प्राप्त करने के लिए नहीं; अपितु अपने कलुषित अभिप्राय पूर्वक मान कषाय की पूर्ति के लिए चाहता है कि सब लोग मुझे जानें, मुझे पूजें, मेरी प्रतिमाएँ बनाएँ इत्यादि रूपों में मान कषाय के पोषण के लिए इच्छा करता है; परंतु अभी यह धोखे में है कि सब मुझे जानेंगे।

अरे! विचार तो करो कि अभी वर्तमान में आप स्वयं कितने तीर्थंकरों के नाम जानते हो, कितनों की पूजा करते हो। जब हम स्वयं ही सारे तीर्थंकरों के नाम नहीं जानते, सबकी पूजन नहीं करते हैं; तब भला फिर सब हमारा नाम कैसे याद रखेंगे?

‘‘किसी व्यक्ति ने पण्डित रतनचंदजी मुख्तार से पूछा कि आप इतने बड़े विद्वान हो; परंतु आपको बहुत कम व्यक्ति जानते हैं।

उसके उत्तर में पण्डित रतनचंदजी मुख्तार ने कहा कि भाई! ख्याति सम्यक्त्व और मोक्ष का कारण नहीं है; अतः जिसे ख्याति की चाह है, वह निदान आर्तध्यान वाला है।

मैं इस पुद्गल की ख्याति नहीं चाहता। अनंत चक्रवर्ती हुए। आज उनके नाम को भी कोई नहीं जानता है। ढाई द्वीप में अभी जो असंख्यात अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य हैं। उन सभी के नाम हम नहीं जानते हैं। इतना ही नहीं, विहरमान वर्तमान लाखों केवलियों के नाम भी आप और हम नहीं जानते हैं। तो इससे उनको कोई नुकसान हो गया क्या? भाई! इससे उनका क्या होना-जाना है। उससे उनके कोई कमी नहीं हो जाती।

उसी तरह से हमारी ख्याति ना भी हो, तो कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि उससे आत्म गुणों में कमी नहीं होने वाली है। ख्याति चाहना जीवन की विफलता है, इसलिए ख्याति न चाहो।''[1]

यद्यपि ख्याति जीवन की विफलता है तथापि यह जीव की विचित्रता है कि ख्याति को ही जीवन की सफलता मानता है।

ऐसा ही एक प्रसंग डॉ. हुकमचंदजी भरिल्ल के साथ बना था। एक दिन उनका स्वास्थ्य अत्यंत बिगड़ गया था। जिस कारण से उन्हें तत्काल हॉस्पिटल में भर्ती करना पड़ा था। वहाँ डॉक्टर भी चिंता ग्रस्त थे कि अब क्या करें? अर्थात् उनके जीवन के संबंध में कुछ कहना संभव नहीं था... तब उनसे एक व्यक्ति जबरदस्ती मिलने आए और पूछने लगे कि आप अगले भव में कहाँ जाना चाहते हो?

तब अर्ध बेहोशी की हालत में हुकमचंदजी ने कहा कि 'तुम

1. पंडित रतनचन्द जैन यक्तित्व एवं कर्तृत्व, भाग-1, पृष्ठ-8

मेरे से निदान करवाना चाहते हो। अरे! मेरी इच्छा करने से कुछ नहीं होता। सब पूर्व निश्चित क्रमबद्ध है। अनन्त केवलियों ने जहाँ जाना देखा है, वहाँ ही जाऊँगा...।

हुकमचंदजी भारिल्ल ने स्वयं 'समाधि के सार' में लिखा भी है -

अगले भव सब नक्की ही है उनके चुनने की बात नहीं।
एवं निदान है आर्तध्यान उसको करने की बात नहीं।।
निश्चित क्रम के अनुसार जहाँ भी जाना होगा जाऊँगा।
'भव से होना है पार' बंधुवर यही भावना भाऊँगा।।21।।

भाई! वस्तु स्थिति तो यही है कि जो सामने है, उसकी प्रशंसा सारा जगत करता है; परंतु पीठ पीछे कोई याद तक नहीं रखता है; भला याद रखने का समय ही किसके पास है? विषय-भोगी भोगों में उलझे हैं, आत्मार्थी आत्मस्थ हो गए हैं। अब तुम्हें याद रखने वाला कौन बचा? जो गिने-चुने याद रखते हैं, वे भी स्वार्थ के सगे हैं अर्थात् अपने स्वार्थ के कारण ही तुम्हारी झूठी वाह-वाही करते हैं।

यह अपने कलुषित अभिप्राय से ऐसी मान कषाय की पुष्टि के लिए तीर्थंकर पद को प्राप्त करना चाहता है; इसलिए इसे अप्रशस्त निदान कहा है।

यहाँ **कोई कहे** कि बिना किसी स्वार्थ के, मान से रहित होकर सभी जीवों का कल्याण हो, सभी को मोक्षमार्ग दिखला सकूँ - ऐसी भावना से तीर्थंकर पद की इच्छा कर सकते हैं क्या?

इसीप्रकार आचार्य अपराजित सूरि स्वयं शंका उठाकर उसका समाधान करते हुए कहते हैं -

''यहाँ कोई **शंका** करता है कि रत्नत्रय में अतिशय लाभ की भावना से मैं आचार्य, गणधर आदि बनूँ - ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है?

समाधान :– आचार्य पद आदि का निदान करने पर भी जिस भव में निदान किया है, उस भव में उत्कृष्ट संयम का पालन करने पर भी मान कषाय के दोष के कारण उसकी मुक्ति नहीं होती; क्योंकि वह **'मैं पूज्य होऊँ'** इस संकल्प से आचार्य आदि होने की प्रार्थना करता है। इससे उसका अहंकार प्रकट होता है।''[1]

अर्थात् यदि यह आचार्य, गणधर, तीर्थंकर बनने की प्रार्थना करता है तो इसके हृदय में किसी न किसी रूप में मान कषाय अवश्य ही छुपी रहती है। उसे यह रत्नत्रय में अतिशय लाभ की भावना से; सभी जीवों का कल्याण हो, सभी को मोक्षमार्ग दिखला सकूँ इत्यादि भावनाओं के माध्यम से ढकना चाहता है।

सारांश यह है कि यदि कोई किसी भी प्रकार की भावना से तीर्थंकर पद की चाह रखता है, तो उसका यही अर्थ है कि उसके मन में किसी न किसी रूप में मान कषाय अवश्य विद्यमान है।

यदि ऐसा है तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध कैसे होगा? देखिए! तीर्थंकर प्रकृति के बँधन के लिए सोलह कारण भावनाओं की आवश्यकता होती है; परंतु बुद्धि पूर्वक तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने के लिए सोलह कारण भावनाओं की भी आवश्यकता नहीं है और न ही किसी दूसरे कारणों की; क्योंकि यदि तीर्थंकर प्रकृति को बाँधने के लिए बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करेंगे तो निश्चितरूप से तीर्थंकर प्रकृति कदापि बँधने वाली नहीं है।

तीर्थंकर प्रकृति तो मोक्ष के अभिलाषी जीवों को बँधती है, जिन्हें अंतरंग से ऐसी भावना जागृत होती है कि सभी जीव अपना कल्याण करें, अपना सुख का मार्ग प्रशस्त करें इत्यादि प्रकार की

1. भगवती आराधन (विजयोदया टीका), गाथा-1234

भावना सहित सहज में ही सोलह कारण भावना भी हो जाती है, जिनसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है।

चलो! इतना तो समझ में आ गया कि बुद्धि पूर्वक तीर्थंकर पद को प्राप्त करने की इच्छा खोटी है और इससे तीर्थंकर पद प्राप्त भी नहीं होगा; फिर भी इसको चाहने में हमारा क्या जा रहा है? कदाचित् गलती से निदान बंध हो जाए, तो अच्छा ही होगा न?

नहीं, भाई! गलती से तीर्थंकर प्रकृति का निदान बंध हो जाएगा – ऐसा सोचकर अँधेरे में तीर चलाना उचित नहीं है; क्योंकि सर्वोत्कृष्ट प्रशस्त तीर्थंकर प्रकृति कभी-भी भीख में मिलने वाली नहीं है अर्थात् इसका निदान बंध नहीं हो सकता है। इसकी प्राप्ति तो निर्वाञ्छक रूप से, बिना किसी आशा, अभिलाषा के सोलह कारण भावना पूर्वक सहज ही होती है।

तीर्थंकर प्रकृति कभी निदान के फल में नहीं बन्ध सकती है; क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति उत्कृष्टतम प्रशस्त प्रकृति है। उत्कृष्टतम प्रशस्त प्रकृति को बाँधने के लिए उत्कृष्ट पुण्य की आवश्यकता है; परंतु निदान करने से उत्कृष्ट पुण्य भी हीन हो जाता है। जब उत्कृष्ट पुण्य बचा ही नहीं तब हीन पुण्य से तीर्थंकर प्रकृति कैसे बँध सकती है? अर्थात् नहीं बँध सकती है।

हाँ! इतना अवश्य है कि जो निदान किया था, उसका फल तो मिलेगा। जैसे इसने तीर्थंकर पद को माँगा था; परंतु तीर्थंकर पद तो मिलने वाला नहीं है। अब इसके पास जितना पुण्य होगा, उसके अनुसार इसको फल मिलेगा। पुण्यानुसार यह तीर्थंकर से संबंधित कुछ भी फल प्राप्त कर सकता है। जैसे – मंत्री, सेवक-सेविका, सेना-सेनापति, द्वारपाल, हाथी-घोड़े इत्यादि कुछ भी बन सकता है।

जैसा जगत में देखा भी जाता है कि भीख माँगने वाला भिखारी अपनी इच्छा के अनुसार दाता से भीख माँगता है; परंतु भीख में क्या देना है? यह दाता की संपत्ति और मंशा पर निर्भर करता है।

वैसे ही निदान करने वाला भिखारी अपनी इच्छानुसार कर्मों से भीख माँगता है (निदान करता है); परंतु भीख में क्या देना है – यह तो कर्मों की संपत्ति (पुण्य-पाप) और मंशा (भवितव्यता) पर निर्भर करता है।

भीख माँगने में तो हम स्वतन्त्र हैं; परंतु भीख लेने में नहीं; भीख लेने में तो दाता के अधीन हैं; वैसे ही निदान करने में तो हम स्वतन्त्र हैं; परंतु निदान के फल को लेने में नहीं, निदान का फल तो कर्मों के अधीन है।

जैसे भिखारी भीख माँगकर अपनी दरिद्रता को दिखाता हुआ दर-दर की ठोकरें खाता फिरता है; वैसे ही यह निदान करके अपनी दरिद्रता को दिखाता हुआ संसार में दर-दर की ठोकरें खाता फिरता है।

जिसप्रकार भिखारी भीख माँगते-माँगते अपनी वास्तविक योग्यता को भूल जाता है और दिन-रात संक्लेश परिणाम करता हुआ दुःखी रहता है; उसीप्रकार निदान के रूप में भीख माँगते-माँगते यह अपनी वास्तविक योग्यता को भूल जाता है और दिन-रात संक्लेश परिणाम करता हुआ दुःखी रहता है।

इसप्रकार निदान, भीख माँगने के समान है; इसलिए किसी भी प्रकार का निदान करने योग्य नहीं है।

गणधर :– अभिमान के लिए गणधर पद को चाहना, कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान है।

यह गणधर पद भी तीर्थंकर पद के समान ही है अर्थात् जैसे तीर्थंकर बनने के बाद मोक्ष जाना निश्चित है, वैसे ही गणधर बनने के बाद भी मोक्ष जाना निश्चित है और जैसे मोक्ष जाने के लिए तीर्थंकर पद अनिवार्य नहीं है, वैसे ही मोक्ष जाने के लिए गणधर पद भी अनिवार्य नहीं है; फिर यह गणधर क्यों बनना चाहता है?

सीधा-सा उत्तर है कि अपने कलुषित अभिप्राय की पुष्टि के लिए गणधर बनना चाहता है; इसलिए इसे अप्रशस्त निदान कहा है।

मैं गणधर बनूँ, सभा का नायक बनूँ, तीर्थंकर देव का पट्ट शिष्य बनूँ, जो तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि को समझने में सक्षम है। यदि दूसरों को समझना है, तो उन्हें मेरे पास आना ही पड़ेगा, मेरे सामने झुकना ही पड़ेगा; क्योंकि गणधर और विशिष्ट पुरुषों को छोड़कर अन्य कोई तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि को समझने में समर्थ नहीं है[1]; अतः उन्हें दिव्यध्वनि का मर्म समझने के लिए गणधर देव की ही शरण लेनी पड़ेगी इत्यादि प्रकार से अपनी कषाय पूर्ति करने के लिए गणधर बनना चाहता है; इसलिए इसे **कषाय का कारणभूत** कहा, कलुषित अभिप्राय होने से **अप्रशस्त** कहा और तीव्र इच्छा होने से **निदान** कहा है।

इसीप्रकार यदि कषाय के वशीभूत होकर अशुभ भाव सहित शास्त्र अध्ययन, प्रभावना आदि करें कि मेरी प्रवचन शैली ऐसी हो, जिसे सुनकर सब मंत्र-मुग्ध हो जाएँ और मेरे जैसा कोई दूसरा विद्वान नहीं हो, जिसकी कीर्ति मेरे समान हो।

मैं ऐसा अध्ययन करूँ कि कोई कहीं से कैसा भी प्रश्न पूछ ले, उसका उत्तर झट से दे सकूँ, अनेक दिग्गज विद्वान भी जिसका उत्तर देने

1. विस्तार से समझने के लिए देखें 'समवशरण रचना वर्णन', पृ.145-159

में असमर्थ हों, उसका उत्तर मैं दे सकूँ, निदान का ऐसा विषय जिसे आज तक किसी ने नहीं बताया, उसे मैं समझा सकूँ इत्यादि प्रकार का लक्ष्य करके अध्ययन, प्रभावना करना चाहते हैं, तो समझना कि हम अध्ययन, प्रभावना नहीं कर रहे हैं और न ही करना चाहते है; अपितु कषाय के कारणभूत अप्रशस्त निदान ही कर रहे हैं।

प्रश्न :– क्या तीर्थंकर के समान गणधर पद भी निदान के फल में नहीं मिलता है?

उत्तर :– निदान के फल में गणधर पद मिल सकता है या नहीं – ऐसा स्पष्टरूप से आगम में मुझे देखने में नहीं आया और न ही तर्क–युक्ति के आधार से ज्ञात होता है।

आचार्य पद :– अभिमान के लिए आचार्य पद को चाहना कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान है।

'मैं पूज्य होऊँ' ऐसे संकल्प से कलुषित अभिप्राय पूर्वक मान कषाय की पुष्टि के लिए आचार्य पद को चाहता है; इसलिए इसे कषाय का कारणभूत और अप्रशस्त कहा है।

यह आचार्य पद तीर्थंकर और गणधर पद से थोड़ा भिन्न है। जैसे तीर्थंकर और गणधर के बिना भी मोक्ष जाया जा सकता है, वैसे ही आचार्य पद के बिना भी मोक्ष जाया जा सकता है; परंतु जैसे तीर्थंकर और गणधर बनने पर मोक्ष निश्चितरूप से होता ही है, वैसा आचार्य पद के साथ नहीं है अर्थात् आचार्य बनने के बाद मोक्ष हो भी सकता है और नहीं भी।

प्रश्न :– क्या आचार्य पद निदान के फल में मिल सकता है?

उत्तर :– हाँ! आचार्य पद निदान के फल में मिल सकता है;

क्योंकि आचार्य पद का मोक्ष के साथ अविनाभाव संबंध नहीं है अर्थात् आचार्य पद प्राप्त करने पर मोक्ष हो भी सकता है और नहीं भी तथा आचार्य पद के बिना भी मोक्ष हो सकता है और नहीं भी।

वास्तविक स्थिति तो ऐसी है कि आचार्य पद में रहते हुए मोक्ष नहीं हो सकता है; क्योंकि मोक्षगामी जीव अंतिम समय में आधि–व्याधि–उपाधि तीनों का त्याग करते हैं; इसलिए मोक्ष जाने के लिए उन्हें अपने आचार्य पद की उपाधि का भी परित्याग करना ही पड़ता है।

यह आचार्य पद टोडरमलजी के तीन प्रकार के कारणों में से पहले कारणरूप है। इसका निदान हो भी सकता है और इसके फल में आचार्य पद मिल भी सकता है; परंतु निदान का फल केवल संयोग दे सकता है, परिणाम नहीं तथा परिणामों के अभाव में ही स्वच्छंद प्रवृत्ति होती है।

आचार्य गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन ग्रंथ में मुनिराजों की स्वच्छंद प्रवृत्ति को बतलाते हुए लिखते हैं–

एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कांता–कटाक्षेक्षणः।
अङ्गालग्न–शरावसन्न–हरिणप्रख्या भ्रमंत्याकुलाः।।
संधर्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमाः।
मा व्राजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान्।।150।।

जो प्रत्यक्ष में मुनि नहीं हैं; परंतु अपने को मुनि मानते हैं, वे स्त्रियों के कटाक्ष भरे अवलोकन से ग्रसित, बाणों के घाव से पीड़ित, हिरण के समान व्याकुल होकर भ्रमण करते हैं। वे विषयरूपी वन के स्थल भाग में कहीं भी स्वयं को स्थिर नहीं रख पाते – ऐसे पवन द्वारा खंडित बादलों के समान चपल और चंचल भ्रष्ट स्वच्छंदी मुनियों की संगति, भव्य जीवों को नहीं करनी चाहिए।

इसका अर्थ यह है कि स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाले आचार्यों का होना भी संभव है।

पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त और यथाच्छंद मुनि इसी के उदाहरण स्वरूप हैं। ये निदान के कारण ही पथ भ्रष्ट होते हैं। कहा भी है–

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा।
अच्चासादणसीला माया बहुला निदाण कदा।।1945।।[1]

ये सभी क्षपक सन्मार्ग से च्युत हो जाते हैं; क्योंकि शंकादि दोष दूर नहीं करते हैं, कषायों के वशवर्ती होते हैं, संवेग भाव मंद होता है, गुण एवं गुणीजनों का अपमान करते हैं, माया और **निदान की उनमें प्रचुरता होती है**; इसलिए सन्मार्ग से च्युत हो जाते हैं।

इतिहास भी इस बात का गवाह है कि विकट परिस्थितियों में अपने कर्तव्यों का निर्वाह नहीं करने के कारण अनेक आचार्य पथ भ्रष्ट हुए हैं। स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हुए उन्होंने अनेक नवीन परंपराओं[2] को जन्म दिया है, अनेक मतों को खड़ा किया है।

यहाँ **जिज्ञासा** हो सकती है कि जब अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने की शक्ति नहीं थी तथा स्वच्छंद प्रवृत्ति ही करनी थी, तो आचार्य पद धारण ही क्यों किया?

समाधान :– पूर्व भव में अंतरंग परिणाम से सहित अथवा रहित कषाय भावों की पुष्टि के लिए पूज्यपने की दृष्टि से कदाचित् आचार्य पद का निदान किया हो, उसी के फल स्वरूप आचार्य पद ग्रहण करना पड़ा हो। निदान बंध केवल संयोग दे सकता है, परिणाम नहीं। संयोग के रूप में आचार्य पद तो मिल सकता है; परंतु परिणाम

1. भगवती अराधना, गाथा–1945
2. टोडरमल महाविद्यलाय E - पत्रिका, अंक–02/अप्रैल, इतिहास कक्ष, पृ.9-11

नहीं मिल सकते हैं और अंतरंग परिणामों के अभाव में केवल बाह्य चर्या कब तक टिक सकती है अर्थात् अपने पद के योग्य कर्तव्यों का निर्वाह करने की शक्ति न होने से स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं।

इसप्रकार कलुषित अभिप्राय पूर्वक पूज्यत्व की दृष्टि से आचार्य पद को चाहता है; इसलिए यह कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान है।

सौभाग्य:– सभी इष्ट पदार्थों की प्राप्ति का नाम सौभाग्य है। अपने अभिमान के पोषण के लिए, दूसरों को दिखाने के लिए सौभाग्य चाहता है। मेरा भाग्य देखो! मैं जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता हूँ, वह मुझे प्राप्त हो जाती है; इसप्रकार जगत में ख्याति पाने के लिए सौभाग्य चाहता है।

सौभाग्य में ही सात–गारव आदि भी सम्मिलित हैं। मेरा साता कर्म का उदय तो देखो! जिससे मुझे आहार में स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ मिलते हैं। मैं जो भी प्रतिज्ञा धारण करके आहार के लिए निकलता हूँ, वह पूर्ण हो जाती है। मेरे ऊपर कभी कोई उपसर्ग नहीं होता है; इसप्रकार साता कर्म के कारण अभिमान करना, सात–गारव है।

इसीप्रकार अपने अभिमान की पूर्ति के लिए आज्ञा को चाहता है कि सभी मेरी आज्ञा को मानें। जो मैंने आज्ञा दी है, उसे किसी भी कीमत पर पूरी करें।

आदर चाहता है कि सभी मुझे चरण स्पर्श कर हाथ जोड़कर नमस्कार आदि करें। यदि सभा लगी हो, तो उसमें सबसे पहले मुझे नमस्कार आदि करें, मेरा सम्मान करें इत्यादि प्रकार से अपनी कषाय पूर्ति की अभिलाषा से अनेक दोषों के समूहरूप कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान करता है।

मैं अध्यापक हूँ। आज तक मेरे जैसा कोई अध्यापक नहीं हुआ। अब तक जो भी अध्यापक आते थे, विद्यार्थी उन्हें सताते थे, परेशान करते थे; परंतु मुझे परेशान करने की हिम्मत आज तक किसी ने नहीं की। मेरे आते ही सब शांति से बैठ जाते हैं; इसप्रकार अपने सौभाग्य को दर्शाता है।

सभी बच्चे मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मैं एक बार जो कह देता हूँ, विद्यार्थी उसको सहज स्वीकार कर लेते हैं। इसप्रकार अपनी आज्ञा को प्रदर्शित करता है और विद्यालय में सभी विद्यार्थी मेरा सम्मान, स्वागत करते हैं। सर्वत्र आदर करते हैं; इसप्रकार जाने-अनजाने में अपने वर्चस्व को भूल कर पर-पदार्थों की क्रिया-प्रतिक्रिया से अपनी तुलना करके उनको प्राप्त करने की अभिलाषा करता हुआ कषाय का कारणभूत अप्रशस्त निदान करता है।

मान कषाय की भाँति इस अप्रशस्त निदान को क्रोध आदि 25 कषायों पर घटित करना चाहिए। जैसे प्रथमानुयोग में क्रोधादि कषायों के अनेक उदाहरण आते हैं। जिनमें कुछ इसप्रकार हैं-

सर्वप्रथम **क्रोध कषाय** के वशीभूत होकर किया गया अप्रशस्त निदान का उदाहरण-

श्री कृष्ण के मामा 'कंस' के पूर्व भव की कथा[1] **-**

नदी के किनारे पंचाग्नि तप को तपने वाले महा तपस्वी (अन्य मती) साधु तप कर रहे थे। जिसका नाम 'वशिष्ठ' था। पंचाग्नि तप को तपने के कारण वशिष्ठ मुनि की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। एक दिन जैनधर्म की दृढ़ श्रद्धानी प्रियंगुलतिका अपनी सखियों के साथ नदी के किनारे गई। वहाँ सभी सखियों ने वशिष्ठ साधु को देखकर नमन

1. हरिवंश पुराण, सर्ग-33, पृष्ठ-410

किया; परंतु प्रियंगुलतिका ने नमन नहीं किया। इस बात पर सारी सखियाँ उससे रुष्ट हो गईं और कहने लगी कि तूने तपस्वी को नमन क्यों नहीं किया? प्रियंगुलतिका कहती है कि जब यह तपस्वी है ही नहीं, धीवर है; तब मैं इसको नमन क्यों करूँ? प्रियंगुलतिका के ये शब्द अग्नि की भाँति पूरे नगर में फैल गए।

तदनन्तर राजा की सभा में प्रियंगुलतिका सहित सारी सखियाँ एवं नगर-जन एकत्रित हुए। सभा प्रारंभ हुई। प्रियंगुलतिका से पूछा गया कि तुमने तपस्वी का अनादर क्यों किया? उनको नमन क्यों नहीं किया? इस पर प्रियंगुलतिका ने पुनः वही उत्तर दिया कि मैंने किसी का अनादर नहीं किया, जब ये तपस्वी हैं ही नहीं, धीवर हैं (मछलियों को पकड़ने वाला) तो मैं इनको नमन क्यों करूँ? इन शब्दों को सुनते ही पूरी सभा में हल-चल मच गई; तब प्रियंगुलतिका ने सिद्ध किया कि देखो! इनके केस में छोटी-छोटी मछलियाँ भरी हुई हैं...इसप्रकार अंत में प्रियंगुलतिका निर्दोष सिद्ध हुई और वशिष्ठ साधु को निंदित होकर वहाँ से जाना पड़ा।

पश्चात् वशिष्ठ मुनि पुनः कठिन से कठिन तप तपने लगे। कालांतर में उसी मार्ग से दिगंबर जैन मुनिराजों का एक संघ जा रहा था। संघ में एक नव-दीक्षित साधु वशिष्ठ मुनि को देखकर बोले कि आचार्य! ये कितने बड़े तपस्वी हैं। हमें भी ऐसा तप तपना चाहिए। तब आचार्य देव ने कहा कि यह सच्चा तप नहीं है। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जानकर पूर्व की सारी घटना क्रमशः बता दी। उस समय वशिष्ठ मुनि ने भी सम्पूर्ण वृत्तांत सुना, तब उन्हें आचार्य के विशेषज्ञान को देखकर जिनधर्म की श्रद्धा उत्पन्न हुई और उन्होंने तत्काल ही नग्न दिगंबर दीक्षा धारण कर ली।

अब नग्न दिगंबर वशिष्ठ मुनि अनेक बड़े-बड़े उपवास करने लगे। जिससे उनकी कीर्ति थोड़े ही समय में सर्वत्र फैल गई। फिर एक-एक माह के लंबे उपवास करने के बाद मथुरा नगरी में आहार ग्रहण करने के लिए आए। यहाँ के राजा उग्रसेन जिनधर्म के श्रद्धानी थे। उन्होंने संपूर्ण नगर में घोषणा करवा दी कि पूज्य वशिष्ठ मुनि को सर्वप्रथम आहार मैं ही दूँगा। जिसको अपना जीवन प्रिय न हो वही राज-आज्ञा की अवहेलना करने का दुष्कृत्य कर सकता है अर्थात् सभी ने राज-आज्ञा का पालन करते हुए राजा का सम्मान किया।

वशिष्ठ मुनि एक-एक माह के उपवास के बाद क्रमश: 3 बार आहार लेने के लिए आए; परंतु उन्हें तीनों ही बार आहार नहीं मिला। पहली बार जब वशिष्ठ मुनि आहार के लिए आए, तब राजा जरासंध के दूत के साथ राज-कार्य में संलग्न थे; अतः आहार नहीं दे पाए। दूसरी बार पागल हाथी को शांत कराने में उलझे हुए थे और तीसरी बार नगर में आग को शांत करने में लगे थे; इसलिए तीनों ही बार राजा आहार नहीं दे पाए।

अंत में जब वशिष्ठ मुनि जंगल की ओर प्रस्थान कर रहे थे, तब उन्होंने दो नगर-वासियों की परस्पर चर्चा-वार्ता को सुना कि 'राजा स्वयं तो आहार देता नहीं और हमें भी नहीं देने देता।' इन शब्दों को सुनते ही वशिष्ठ मुनि की क्रोध कषाय भड़क पड़ी और तत्काल **'निदान'** किया कि **मैं अगले भव में इसी राजा का पुत्र होकर इसे अनेक कष्ट दूँगा, बंदी बनाऊँगा इत्यादि।**

कालांतर में मरण कर उसी राजा के पुत्र हुए। जब माँ के गर्भ में थे, तब माँ को बहुत हिंसक परिणाम होते थे; अतः जन्म लेते ही

माँ ने उसे काँसे के वर्तन में बंद करके लकड़ी की मंजूषा में रखकर नदी में बहा दिया। एक लकड़हारिन ने उस लकड़ी की मंजूषा (पेटी) को उठाया। उसमें काँसे की पेटी में बंद एक बालक को देखा। बालक को काँसे के अन्दर रखा देखकर उसका नाम कंस रख दिया। युवावस्था में जरासंध के सहयोग से वह अपने पिता उग्रसेन का राज्य लेकर पिता को बंदी बना लेता है।

इसप्रकार उत्कृष्ट साधना के फल में निकृष्ट निदान करके अत्यंत निम्न फल प्राप्त किया।

मान और लोभ कषाय के वशीभूत होकर किया गया अप्रशस्त निदान का उदाहरण-

श्री कृष्ण के पिता 'वसुदेव' के पूर्व भव की कथा[1] **–**

''श्री कृष्ण के पिता वसुदेव पूर्व भव में अत्यंत निर्धन, दरिद्री थे तथा पाप के तीव्र उदय को भोग रहे थे। जन्म लेते ही माता-पिता की मृत्यु हो गई। जिस किसी संबंधी के पास जाते तो वे भी निर्धन हो जाते; इसलिए उससे सब नफरत करते थे और न ही कोई अपने पास रखने को तैयार होते थे।

एक दिन इन सभी परिस्थितियों से परेशान होकर उसने आत्म-हत्या करने की ठान ली। पर्वत से कूदकर आत्म-हत्या करने का विचार बनाया। जैसे ही पर्वत से कूदने को होता, वैसे ही पर्वत की ऊँचाई देखकर भय से पीछे हट जाता। इसप्रकार अनेक बार कूदने का प्रयत्न करता रहा; परंतु हर बार भय के कारण पीछे हट जाता था।

इसी पर्वत के नीचे गुफा में दो मुनिराज (श्री कृष्ण और बलदेव का जीव) आचार्य से शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उस निर्धन की परछाई

1. हरिवंश पुराण, सर्ग-18, पृष्ठ-275

गुफा के बाहर पड़ रही थी। उसकी आती-जाती परछाई को देखकर दोनों मुनिराजों ने आचार्य से पूछा कि यह क्या हो रहा है? तब आचार्य देव ने अपने अवधिज्ञान से बताया कि यह अगले भव का तुम्हारा पिता है और उन्हें क्रमशः पूरी घटना बता दी। फिर दोनों मुनिराज वात्सल्य भाव से उसे संबोधित करने के लिए पर्वत के ऊपर गए। संबोधित करके अपने साथ नीचे ले आए।

जब आचार्य मुनिराज आहार के लिए विहार करते, तब वह दरिद्री भी उनके पीछे-पीछे चला जाता था। श्रावकजन उस दरिद्री को मुनिराज के साथ जानकर उसे भी स्वादिष्ट आहार कराते थे।

वह विचारने लगा कि इनके पीछे-पीछे जाने से जब मुझे इतना लाभ हुआ है कि जिस भोजन के दर्शन आज तक मैंने नहीं किए थे। वह मुझे मिला। यदि मैं यह नग्न दिगंबर वेष धारण कर लूँ तो कितना लाभ होगा...। इसप्रकार विचार कर वह नग्न दिगंबर दीक्षा धारण कर लेता है।

कालांतर में अनेक प्रकार के कठिन तप को तपते हुए अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्रकट कीं और साथ ही साथ वैयावृत्त्य तप में भी विशेष ख्याति प्राप्त की। वैयावृत्त्य तप में आपकी ख्याति की चर्चा स्वर्ग लोक में भी होने लगी।

उसी चर्चा को सुनकर दो देव आपकी परीक्षा करने के लिए आए...। परीक्षा करने के पश्चात् देवगण अत्यधिक प्रसन्न हुए और आपकी वैयावृत्त्य तप में जगत-प्रसिद्धि को सत्यार्थ जान पूजन, नमन आदि करके स्वर्ग लोक लौट गए।

तत्पश्चात् 45 हजार वर्ष से भी अधिक वर्षों तक वैयावृत्त्य तप को तपते हुए संपूर्ण भूतल को पावन कर रहे थे। जब आयु के अंतिम 6

माह शेष थे। तब आपके मन में किंचित् कषाय जागृत हुई, जिससे आपने **'निदान'** किया कि **मैं अगले भव में धनवान और सौभाग्यशाली बनूँ।**

इस निदान के फल में आप वसुदेव हुए। यदि आप यह निदान नहीं करते तो आपको अपनी उत्कृष्ट तपस्या के अनुसार तीर्थंकर पद प्राप्त होता।''

इसप्रकार निदान के कारण उत्कृष्ट तीर्थंकर पद को प्राप्त न करके कामदेव पद प्राप्त किया।

स्नेह (रति) के वशीभूत होकर किया गया अप्रशस्त निदान का उदाहरण-

श्री कृष्ण के दादा अंधकवृष्टि की पत्नी के पूर्व भव की कथा[1] **-**

श्री कृष्ण के दादा अंधकवृष्टि की पत्नी के पूर्व भव के समय वसुदेव का जीव धनपाल था। धनपाल के पिता और 9 भाई उसी भव से मोक्ष चले गए। दो बहनों ने आर्यिका दीक्षा ले ली। माँ के गर्भ में धनपाल थे; अतः माँ दीक्षा न ले पाई। जन्म के पश्चात् जब धनपाल योग्य हो गए, तब माँ ने भी आर्यिका दीक्षा ले ली; परंतु कालांतर में माँ ने स्नेह के वशीभूत होकर **'निदान'** किया कि **परभव में यह मेरा पुत्र हो।** इसीप्रकार दोनों बहनों ने भी यह 'निदान' किया कि **परभव में यह हमारा भाई हो।**

इस निदान के फल में वसुदेव के भव में सब एकत्रित हुए।

इसीप्रकार पुराण ग्रंथों में द्रोपदी[2], सीता[3], रावण[4] आदि की अनेक कथाएँ आती हैं। जिनमें यह स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी

1. हरिवंश पुराण, सर्ग-18, पृष्ठ-271 2. हरिवंश पुराण, सर्ग-54
3. बोधि समाधि निधान, कथा-38, (पद्मपुराण)
4. पद्मपुराण वचनिका

जीव पुरुषार्थ से कमाई हुई आराधना को कषायों के वशीभूत होकर क्षण मात्र में निदान करके गवाँ देता है।

इसप्रकार इस तीसरे भेद के स्वरूप को, परिभाषा में आए प्रत्येक पद का सयुक्ति विश्लेषण द्वारा व पुराण ग्रंथों में प्राप्त कथानकों के माध्यम से समझा।

4) भोग का कारणभूत अप्रशस्त निदान :–

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं।।1213।।[1]

देवों और मनुष्यों में होने वाले भोगों की अभिलाषा करना तथा भोगों के लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठीपना, सार्थवाहपना, नारायण, प्रतिनारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होने की इच्छा करना, भोग का कारणभूत अप्रशस्त निदान है।

निदान के इस चौथे भेद में भोगों के वशीभूत होकर इच्छा की जाती है; इसलिए इसे **भोग का कारणभूत** कहा है। भोगों को भोगने रूप अशुभ परिणाम होने से **अप्रशस्त** कहा तथा उक्त भोगों को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होने से **निदान** कहा है।

यहाँ भोग शब्द से संपूर्ण पंच इंद्रियों के विषयों का ग्रहण करना है; न की केवल स्पर्शन इंद्रिय से संबंधित मैथुन क्रिया का।

अपनी इच्छा से जो भोगे जाते हैं, उन्हें **काम–भोग** कहते हैं।'[2] इससे स्पष्ट है कि जो स्वेच्छा से भोगे जाते हैं, वे ही काम–भोग हैं; पर की इच्छा से या जबरदस्ती भोगे जाने वाले नहीं। स्वेच्छा से वही भोगे जाते हैं, जिनमें सुख बुद्धि होती है; इसलिए कहा है–

1. भगवती आराधना, गाथा–1213
2. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा–202

सांसारिकसुखहेतून् भोगाः[1] अर्थात् सांसारिक सुखों के हेतुओं को **भोग** कहते हैं।

इच्छा के साथ जब पदार्थों का संयोग होगा, तभी वे भोग कहलाएंगे – ऐसा नहीं है। केवल मन में इच्छा का उत्पन्न होना ही भोग है। बाह्य हेतुओं को, पर वस्तुओं को तो उपचार से भोग कहा जाता है; परंतु वास्तव में तो हमारे मन का संकल्प ही भोग है। जैसा कहा भी है–

'सुख का साधन होने से मन में संकल्पित खान–पान आदि और स्त्री वर्ग आदि काम–भोग हैं।'[2]

यहाँ खान–पान या स्त्री वर्ग को काम–भोग नहीं कहा है; अपितु **मन में जो खान–पान व स्त्री वर्गादि हैं, उन्हें काम–भोग कहा है** अर्थात् संक्षेप में कहें तो मन का संकल्प ही काम–भोग है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि **मन का संकल्प तो सामान्य है; परंतु जो मन का संकल्प अति आसक्ति पूर्वक भौतिक सुख के लिए है, वह निदान है।** उसमें भी जो मन का संकल्प पंचेन्द्रिय विषयों के लिए है, वह भोग का कारणभूत है।

समयसार की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचंद्र देव लिखते हैं–

'बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत्'[3]

'वीर्य–स्खलन के साथ ही दारुण काम संस्कार नष्ट हो जाता है।' उसे किसी भी कीमत पर रोका नहीं जा सकता है। वीर्य–स्खलन के बाद वह काम–भाव नियम से नष्ट हो जाता है। यदि उस क्रिया में

1. मूलाचार टीका (आचारवृत्ति), गाथा–81
2. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा–202
3. समयसार टीका (आत्मख्याति), गाथा–72,73,74

आनन्द होता, तो वीर्य-स्खलन के बाद भी होना चाहिए था; परंतु ऐसा तो है नहीं। सार यही है कि विषय-भोगों में सार नहीं है, आनन्द नहीं है; इसलिए ये भोग त्याज्य हैं।

इसकी विषयासक्ति तो देखो! भोगों के लिए नारी बनने को भी तैयार है। नारीपने में विषय-आसक्ति की तीव्रता होती है। नारी पर्याय में वेद कषाय का उदय जल्दी आता है और पुरुष पर्याय में देर से आता है तथा स्त्री पर्याय में पुरुषों की अपेक्षा वेद का उदय अधिक समय तक रहता है, उन्हें शीघ्रता से विषय सुख से तृप्ति नहीं होती है; इसलिए प्राचीन काल से ही पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का विवाह कम आयु में होता आया है[1] तथा संविधान में भी ऐसा नियम पारित हुआ है कि महिलाओं का विवाह 18 वर्ष में और पुरुषों का विवाह 21 वर्ष में होगा।

इसप्रकार यह स्त्रियों में विषयासक्ति की तीव्रता को देखते हुए नारीपने को चाहता है।

प्रश्न :- परिभाषा में ईश्वरपना, श्रेष्ठीपना, अधिपतिपना - इनकी अभिलाषा की बात आई है; परंतु इनकी अभिलाषा तो कषाय के कारणभूत अप्रशस्त निदान में होनी चाहिए; क्योंकि इनमें मान कषाय की मुख्यता देखी जाती है। फिर यहाँ इनको भोग के कारणभूत अप्रशस्त निदान में क्यों लिया है?

उत्तर :- ईश्वरपना, श्रेष्ठीपना, अधिपतिपना - इनकी अभिलाषा दोनों प्रकार के अप्रशस्त निदानों में हो सकती है। जब मान कषाय की अभिलाषा से उक्त पद माँगे जाएँगे, तब उसे कषाय का कारणभूत

1. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा-448, पृ.347 (16 वर्ष की स्त्री व 20 वर्ष के पुरुष का परस्पर में प्रेम पूर्वक हाव-भाव, विलास, कटाक्ष, श्रृंगारादि भाव पूर्वक संयोग ही स्वर्ग है।)

अप्रशस्त निदान कहा जाएगा और जब भोगों के लिए उक्त पद माँगे जाएँगे, तब उसे भोग का कारणभूत अप्रशस्त निदान कहा जाएगा।

ऐसे उत्तम ईश्वरादि पद में व्यक्तियों को सभी प्रकार के भोग सुलभ होते हैं। न्याय-अन्याय की भी परवाह नहीं करनी पड़ती; इसलिए भोगों की प्राप्ति के लिए ईश्वरादि पदों को चाहता है।

भोगों की उत्कृष्टता को प्राप्त करने के लिए वसुदेव, चक्रवर्ती आदि पदों को प्राप्त करना चाहता है।

इसप्रकार यह भोगों के इतने अधीन हो गया है कि किसी से भी भीख माँगने को तैयार है। धिक्कार है इसकी भोगों की इच्छा पर, जिसके कारण यह अपने हित-अहित का विचार भी नहीं करता है।

ये भोग सर्प से भी अधिक खतरनाक हैं। सर्प के द्वारा डसा गया व्यक्ति कदाचित् बच भी सकता है; परंतु भोगों द्वारा डसा हुआ व्यक्ति कभी नहीं बच सकता है। इंद्रिय सुख तो नियम से कुयोनियों में भ्रमण कराने वाला है।

वास्तव में भोग अच्छे-बुरे नहीं होते हैं, भोग तो भोग ही हैं। भोगों को भोगते समय चित्त राग से व्याकुल हो जाता है, जो दुःख एवं कर्म बंधन का कारण है; इसलिए उपचार से भोगों को बुरा कह दिया जाता है; परंतु वास्तव में तो भोगों का वह राग बुरा है, अहितकारी है; जो संसार का कारण है। कहा भी है-

भोग का निदान करने पर चित्त सदैव राग से व्याकुल रहता है और नवीन कर्मों का बंध करता है।[1] काम का सेवन करने से नवीन वेद कर्म का बंध होता है और सत्ता में स्थित वेद कर्मों के अनुभाग की वृद्धि होती है। अभिलाषा तो परस्पर शारीरिक संसर्ग होने पर भी नष्ट नहीं

1. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा-1236

होती है; क्योंकि अभिलाषा में वेद कर्म का उदय निमित्त होता है।[1]

जैसे पेड़ पर लटका हुआ मनुष्य मधु-बिंदु को तो देखता है; परंतु कुएँ को नहीं देखता है; वैसे ही निदान करने वाला भोगों को तो देखता है; पर अपने दीर्घ संसार को नहीं देखता है।[2] निदान करने वाला अपने द्वारा किए गए पुण्य से स्वर्ग प्राप्त करके भी पुनः एकेंद्रिय में गिर जाता है।

'जैसे कोई कोड़ी मनुष्य अपने रोग के लिए रसायन समान ईख (औषधि विशेष, यहाँ ईख का अर्थ गन्ना नहीं लेना है; क्योंकि गन्ना मीठा होता है और मीठी वस्तु कुष्ट रोग के लिए विष तुल्य होती है; अत: यहाँ ईख शब्द से औषधि विशेष का ग्रहण करना चाहिए) को पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है। वैसे ही भोगों के लिए निदान करके सर्व दुःख और व्याधियों के विनाश करने में तत्पर मुनि पद को नष्ट करता है; इसलिए इनकी इच्छा, वांछा, निदान न करके अपनी रक्षा करनी चाहिए।'[3]

जो वस्तु स्वरूप का विचार नहीं करता, उसकी मति निदान में लगती है।[4] भोगों के दोषों का चिंतन करने से भोगों का निदान नहीं होता है[5] और किसी वस्तु से विरक्त होने के लिए अन्य किसी वस्तु में प्रवृत्त होना चाहिए, तभी उस वस्तु से छूट सकते हैं। यदि भोगों से विरक्ति चाहते हो तो अपने आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करो, तभी भोगों से विरक्त हो सकते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न :– क्या भविष्य की योजना बनाना भी निदान है? यदि योजना बनाना भी निदान है तो हमारे भविष्य का कारोबार, धंधा कैसे

1. भगवती आराधना, गाथा-1244 2. वही, गाथा-1268 3. वही, गाथा-1217
4. वही, गाथा-1278 5. भगवती आराधना (विजयोदया टीका), गाथा-1235

चलेगा? जब हम पहले उसके बारे में सोचेंगे ही नहीं, तो वह काम कैसे होगा? ऐसा होने पर हमारे हाथ में कुछ रहेगा ही नहीं और सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जाएगा?

उत्तर :– अब तक जो हमारी ऐसी मान्यता थी कि मेरे सोचने से ही कार्य होता है। मैं जैसा चाहूँ, वैसा ही कार्य होगा। इसप्रकार मात्र अपनी इच्छा, विकल्प या योजना से कार्य करने की मान्यता, कर्तृत्व बुद्धि अस्त-व्यस्त होगी, अन्य कुछ नहीं; क्योंकि कार्य इच्छा, विकल्प या योजना से नहीं होता। वह तो अपनी योग्यता, भवितव्यता के अनुसार क्रमबद्धरूप से ही होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य होने में योजना की आवश्यकता नहीं है।

अब रही बात योजना निदान है या नहीं?

योजना निदान और अनिदान दोनों रूपों में हो सकती है। योजना में निदान के कुछ बिंदु तो अवश्य घटित होते हैं। योजना आगामी काल में विषय-कषाय, भोग-संयोगों (भौतिक सुख) की प्राप्ति के लिए की जाती है। योजना में आगामी काल और भौतिक सुख की प्राप्ति - ये दो बिंदु तो घटित होते ही हैं; परंतु इन दो बिंदुओं के साथ यदि मन की एकाग्रता, संकल्प, चिंता, व्यग्रता, आकुलता होती है, तो वह योजना, निदान है। ऐसी योजना चाहे प्रशस्तरूप हो या अप्रशस्तरूप हो, वह निदान ही है।

यदि उन दोनों बिंदुओं के साथ मन की एकाग्रता, संकल्पपना, चिंता, व्यग्रता, आकुलता नहीं होती है, सामान्य विकल्प मात्र होते हैं, तो वह योजना, निदान नहीं है। ऐसी योजना चाहे प्रशस्तरूप हो या अप्रशस्तरूप हो, वह निदान नहीं है।

ऐसी सामान्य विकल्परूप योजना तो आचार्य मुनि भगवन्तों को भी होती है। आचार्यों का हजारों मुनिराजों का विशाल संघ होता है, तो उस विशाल संघ के योग्य द्रव्य-क्षेत्र-कालादि के संबंध में विचार भी सहज होता ही है। यद्यपि उनका अनियत विहार होता है, तथापि सामान्यरूप से तत्संबंधी विचार तो होते ही हैं।

मुनिराज जब रात्रि में एक स्थिर मुद्रा को धारण करते हैं। उसके पूर्व मुनि संघ में कुछ मुनिराज मल-मूत्र निक्षेपण के योग्य स्थान का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त किए जाते हैं। यदि रात्रि में कदाचित् किसी मुनिराज को रोगादि के कारण मल-मूत्र निक्षेपण करने की आवश्यकता पड़ती है, तो उसके लिए कुछ मुनिराज संध्या होने के पूर्व ही तीन-चार निर्जन्तुक स्थानों का निरीक्षण करके स्थिर मुद्रा को धारण करते हैं।

मुनिराज आचार्य को अपने दोष बताने के लिए दोषों का स्मरण बारंबार करते हैं; परंतु ऐसा नहीं विचारते कि इन दोषों को इसप्रकार कहूँगा, पहले इस दोष को कहूँगा, परिस्थिति देखकर दोष को कहूँगा; क्योंकि यह तो माया[1] शल्य है। यदि ऐसा विचार करते हैं, तो उन्हें अतिचार लगते हैं।

दोष भूल न जाऊँ - इस भावना से सामान्यरूप से अपने समस्त दोषों का पुनः पुनः स्मरण करते हैं। इसप्रकार चिंता-व्यग्रता-संकल्प रहित सामान्य विकल्परूप योजना तो आचार्य मुनि भगवन्तों को भी होती है।

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि आगामी काल में विषय-कषाय, भोग-संयोग की प्राप्ति के लिए चिंता-व्यग्रता-संकल्प सहित

1. यद्यपि 7वें गुणस्थान में शल्य नहीं होती हैं; तथापि यहाँ तो माया कषाय पर माया शल्य का उपचार करके कहा है।

शुभ-अशुभ मनोवृत्तिरूप योजना, निदान है और आगामी काल में विषय-कषाय, भोग-संयोग की प्राप्ति के लिए चिंता-व्यग्रता-संकल्प रहित शुभ-अशुभ मनोवृत्तिरूप योजना, निदान नहीं है।

प्रश्न :- अपने श्रद्धान को तराशने के लिए जो ऐसे विकल्प किए जाते हैं कि यदि मेरे सामने शेर आ जाए तो क्या मैं ऐसा ही निश्चल रहूँगा या विचलित हो जाऊँगा? यदि मेरे साथ कोई विकट परिस्थिति बनती है तो मैं उसमें क्या करूँगा? क्या ऐसे विकल्प भी निदान हैं?

उत्तर :- नहीं! ऐसे विकल्प निदान नहीं हैं; क्योंकि ऐसे विकल्प विषय-कषाय, भोग-संयोग की प्राप्ति के लिए नहीं किए जाते हैं। ये तो अपनी भूमिका, अपने श्रद्धान की दृढ़ता को देखने के लिए किए जाते हैं।

यद्यपि इन विकल्पों में चित्त की एकाग्रता (निरंतरता) होती है; तथापि भौतिक सुख आदि निदान की संपूर्ण परिभाषा घटित नहीं होती है; अतः ये निदान नहीं हैं।

यदि कदाचित् श्रद्धान को दृढ़ करने के लिए जो विकल्प किए थे, वे साकार भी हो जाते हैं, तो उसे निदान का फल नहीं समझना। वह तो सामान्य कर्मों का उदय ही था। जो हमारी परीक्षा लेने के लिए आया था - ऐसा समझना चाहिए।

*** निदान बंध का फल :-**

निदान भाव, निदान का बंध और निदान बंध का फल - ये तीन बाते हैं।

1) निदान भाव :- आगामी काल में भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए निरंतर इच्छा करना, निदान है। चाहे प्रशस्त हो या अप्रशस्त -

दोनों ही निदानों को करना या न करना हमारे ही हाथों में है।

प्रश्न :– 'हमारे हाथों में है' इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर :–'हमारे हाथों में है' इसके दो अर्थ हो सकते हैं –

1) पहला, मेरी जो क्रिया हो रही है, उसका उपादान कर्त्ता मैं ही हूँ।

2) दूसरा, मेरी जो क्रिया हो रही है, उसको मैं अपने विकल्पानुसार आगे–पीछे, जहाँ–तहाँ या उसमें कुछ फेर–बदल कर सकता हूँ।

इन दोनों अर्थों में से पहला अर्थ ही सही है और दूसरा अर्थ गलत है कि मैं अपनी क्रिया को अपने विकल्पानुसार फेर–बदल कर सकता हूँ। यद्यपि यह तो सत्य है कि क्रिया के अनुरूप हमारे विकल्प होते हैं; परंतु यह सत्य नहीं है कि हम अपनी इच्छानुसार उसे आगे–पीछे, जहाँ–तहाँ या उसमें कुछ फेर–बदल कर सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि उन निदान भावों के उपादान कर्त्ता तो हम स्वयं हैं; इसलिए कहा है कि वे निदान भाव हमारे हाथों में हैं; इसका दूसरा अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए कि हम उन निदान भावों को आगे–पीछे, जहाँ–तहाँ या उसमें कुछ फेर–बदल कर सकते हैं।

2) निदान बंध :– निदान से होने वाला बंध, निदान बंध कहलाता है। यह हमारे हाथों में नहीं है। हमारे हाथों में भीख माँगना तो है; परंतु भीख में क्या मिलने वाला है, वह हमारे हाथों में नहीं है।

निदान बंध के तो उपादान करता भी नहीं हैं, तो फिर उसमें फेर–बदल करने की बात तो बहुत दूर रही; इसलिए ऐसा कहा है कि वह निदान बंध हमारे हाथों में नहीं है।

जैसे – हमने भीख में जो माँगा है, वही मिलेगा – ऐसा नहीं है; वैसे ही हमने जो निदान किया है, उसका वैसा ही बंध होगा – ऐसा

नहीं है। हाँ! इतना अवश्य है कि निदान किया है तो उसका कुछ न कुछ फल तो मिलेगा ही; क्योंकि निदान बंध का होना हमारे पुण्य पर आधारित है और पुण्य से रहित कोई जीव नहीं होता है अर्थात् भीख में कुछ न कुछ तो मिलेगा ही।

किसी ने निदान किया कि मुझे रूपवती, सुंदर आकृति वाली, बुद्धिमती और भोगों में पारंगत स्त्री मिले; परंतु इसकी पूर्ति (निदान बंध) होना पुण्य कर्म के अधीन है। यदि पुण्य अधिक होगा तो जैसा निदान किया था, वैसा इच्छानुसार फल मिलेगा अर्थात् रूपवती, सुंदर आकृति वाली, बुद्धिमती और भोगों में पारंगत स्त्री की प्राप्ति होगी।

यदि पुण्य हीन हुआ अर्थात् निदान के अनुरूप पुण्य नहीं हुआ तो जो निदान किया था, उस पूरे की पूर्ति नहीं होगी। पुण्य के अनुसार मात्र रूपवती या फिर भोगों में पारंगत...स्त्री की प्राप्ति होगी।

यदि पुण्य अत्यंत हीन हुआ तो हो सकता है कि मनुष्य स्त्री की जगह तिर्यंच स्त्री की प्राप्ति हो जाए इत्यादि कुछ भी हो सकता है।

इसप्रकार हमारे निदान भाव सहित पुण्य के अनुसार ही निदान बंध होता है। केवल हमारे भावों के अनुसार निदान बंध नहीं होता है।

हम निदान तो कर सकते हैं, पर निदान बंध नहीं कर सकते हैं। निदान बंध तो होता है; क्योंकि निदान बंध करना हमारे हाथों में नहीं है, कर्मों के हाथों में है; इसलिए उसे कर नहीं सकते हैं, वह तो होता है।

3) निदान बंध का फल :– निदान बंध के उदय में जो मिलता है, वह निदान का फल है। यह निदान का फल (संयोग) भी हमारे हाथों में नहीं है। जैसा कर्म का बंध होता है, वैसा ही फल (संयोग) मिलता है।

निदान बंध फल के रूप में केवल संयोग दे सकता है, परिणाम नहीं और परिणामानुसार ही पुण्य–पाप होते हैं; इसलिए निदान का यह

फल पुण्य-पाप दोनों रूप हो सकता है।

कर्मों का उदय स्वयं से तो पुण्य-पापरूप होता नहीं है और न ही कोई वस्तु या क्रिया या संयोग पुण्य-पापरूप होते हैं। वे तो हमारे परिणामों के अनुसार ही होते हैं तथा परिणामों के अनुसार ही कर्मों का फल पुण्य (सुख) या पाप (दुःख) रूप होता है। कहा भी है-

अनुकूल वेदनीयं सुखं, प्रतिकूल वेदनीयं दुःखं।[1]

जो फल मिलता है, यदि वह वर्तमान परिणामों के अनुकूल है, तो वह पुण्यरूप है और यदि वह वर्तमान परिणामों के प्रतिकूल है, तो वह पापरूप है।

वर्तमान शब्द लिखने का प्रयोजन यह है कि जो फल मिलता है वह पूर्व के परिणामों के अनुसार ही होता है; परंतु वर्तमान में परिणाम बदल भी सकते हैं और नहीं भी; इसलिए वर्तमान परिणामों के अनुसार निदान का फल पुण्यरूप भी हो सकता है और पापरूप भी।

जैसे - निदान करते समय हृदय से आनन्दित होते हुए अभिलाषा की थी कि रूपवती, सुंदर आकृति वाली, बुद्धिमती और भोगों में पारंगत स्त्री मिले।

निदान के फल में पुण्य के अनुसार रूपवती, सुंदर आकृति वाली और बुद्धिमती स्त्री मिलने पर भी भोगों में पारंगत न जानकर दुःखी हो सकता है और कदाचित् भोगों में भी पारंगत स्त्री मिल भी जाए; परंतु अब स्वयं की रुचि न रही, तो ऐसी स्त्री को पाकर स्वयं संक्लेशित होगा अर्थात् **निदान का फल परिणामों के अनुसार पुण्योदय और पापोदय - दोनों रूप हो सकता है; पर निदान बंध में पुण्य ही चाहिए।**

1. दर्शनशास्त्र का परिचय, पृष्ठ-9

यद्यपि भगवान के केवलज्ञान के अनुसार सभी प्रकार के निदान भाव भी निश्चित हैं, वे क्रमबद्धरूप से वैसे ही होते हैं। उनमें कुछ फेर-बदल नहीं कर सकते हैं; तथापि अभी हम छद्मस्थ जीव हैं। हमारा ज्ञान अत्यंत अल्प है, जिसके कारण हम आगामी काल को नहीं जान सकते हैं कि कब, कौन-से और कैसे परिणाम होंगे?

इसलिए हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम अपनी बुद्धि को आगम के अनुकूल रखते हुए उन निदान भावों को छोड़ने का यत्न करें और साथ ही यह श्रद्धा भी रखें कि वे निदान भाव जब छूटने होगें तभी छूटेगें, उससे आगे-पीछे नहीं छूटेंगे।

इसलिए इन निदान भावों के पीछे आकुल-व्याकुल या परेशान होने की आवश्यकता नहीं है कि मैं कितना बुरा हूँ, कैसे-कैसे निदान भाव करता हूँ। इनको छोड़ने का हर सम्भव प्रयास करता हूँ, फिर भी ये नहीं छूटते हैं...इत्यादि रूप से आकुल-व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वे तो अपनी भूमिकानुसार भवितव्यता से क्रमबद्धरूप से ही होते हैं और आगामी काल में होएँगे।

प्रश्नः- ऐसा करने से तो व्यक्ति स्वच्छंद हो जाएगा?

उत्तरः- ऊपर आकुल-व्याकुल होने का निषेध किया है; उन भावों की निंदा[1]-गर्हा[2] करने का नहीं। यदि वह आकुल-व्याकुल नहीं हो रहा है और साथ में निंदा-गर्हा भी नहीं कर रहा है, तो वह आपत्ति का कारण है, तब उसके स्वच्छंद होने की पूरी-पूरी सम्भावना है; इसीप्रकार यदि निंदा-गर्हा करता हुआ आकुल-व्याकुल हो रहा है, तो भी आपत्ति का कारण है, तब आकुल-व्याकुल और संक्लेश परिणाम

1. निंदा - स्वयं में अपने दोषों को प्रकट करना, निंदा है।
2. गर्हा - आचार्यादि गुरुओं के पास जाकर आलोचना पूर्वक दोषों को कहना, गर्हा है।

होने से पाप बन्ध ही होगा।

इसलिए पहले तो उनको छोड़ने का प्रयत्न करना है, छूट गए तो हमारा सौभाग्य है और कदाचित् नहीं भी छूटे तो आकुल-व्याकुल न होते हुए निदा-गर्हा सहित वस्तु-स्वरूप का चिंतवन करना चाहिए।

इसप्रकार निदान भाव, निदान का बंध और निदान बंध का फल - तीनों के विकास क्रम सहित उनमें इस जीव की भूमिका कितनी और कहाँ तक है? - यह देखा।

प्रश्न :- असंज्ञी निगोदिया जीवों को भी निदान बंध होता है क्या?

उत्तर :- इसके समाधान स्वरूप आचार्य अपराजित सूरि भगवती आराधना की गाथा 26 की विजयोदया टीका में लिखते हैं-

''आगामी काल में यही होना चाहिए, इसप्रकार मन के उपयोग को निदान कहते हैं। असंज्ञी जीवों में इसप्रकार का निदान नहीं होता है।''

इस कथन से स्पष्ट है कि जिस निदान की चर्चा हम कर रहे हैं। वह निदान असंज्ञी जीवों को नहीं होता है; क्योंकि इस निदान को करने में मन के उपयोग की एकाग्रता होना आवश्यक है और असंज्ञी जीवों के पास मन नहीं होता है; अत: मन से रहित असंज्ञी जीव मन से होने वाले निदान को कैसे कर सकते हैं? अर्थात् इसप्रकार का निदान असंज्ञी जीवों को नहीं होता है।

प्रश्न :- यह निदान किस अनुयोग का विषय है?

उत्तर :- यह निदान चारों ही अनुयोगों का विषय है। परिणामों का निरूपण होने से द्रव्यानुयोग का विषय है। सुख-शान्ति से जीवन-यापन करने की शिक्षा देने वाला होने से चरणानुयोग का विषय है। निदान करने से पुण्य क्षीण होता है, कर्मों की अपेक्षा होने से करणानुयोग

का विषय है और पुराण ग्रंथों में निदान का फल दिखाकर धर्ममार्ग में लगने की प्रेरणा होने से प्रथमानुयोग का विषय है। इसप्रकार यह निदान चारों ही अनुयोगों का विषय है।

चारों ही अनुयोगों का विषय होने पर भी द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग की मुख्यता है। निदान के संपूर्ण स्वरूप में परिणामों की चर्चा होने से द्रव्यानुयोग की मुख्यता है और उन परिणामों को जीवन में आचरित करने की अपेक्षा से चरणानुयोग की मुख्यता है।

किन परिणामों का ग्रहण-त्याग करना है? यह बताने वाला द्रव्यानुयोग है और द्रव्यानुयोग के विषयभूत परिणामों को जीवन में आचरित कराने वाला चरणानुयोग है।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग के बिना चरणानुयोग और चरणानुयोग के बिना द्रव्यानुयोग लाभ-प्रद नहीं है; इसलिए यह निदान का विषय द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग - दोनों की मुख्यता को लिए हुए है।

******

भोगों का स्वरूप

(सवैया इकतीस)

ये ही हैं कुगति की निदानी दुःख दोष दानी,
इन ही की संगति सों संग भार बहिये।
इनकी मगनता सों विभो को विनाश होय,
इन ही की प्रीति सों अनीति पंथ गहिये।।
ये ही तप भाव को बिडारें दुराचार धारें,
इन ही की तपत विवेक भूमि दहिये।
ये ही इन्द्री सुभट इनहि जीतै सोई साधु,
इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये।।70।।

- बनारसी विलास, छंद-70, पृ.95

निदान से होने वाली हानियाँ

बिन जाने तैं दोष गुनन को, कैसे तजिये गहिये।। दोषों को जाने बिना उनका त्याग करना संभव नहीं है और गुणों को जाने बिना उनका ग्रहण करना शक्य नहीं है; इसलिए मोक्षमार्ग में आरूढ़ छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले मुनिराज भी आहार-विहार-निहार आदि क्रियाओं के पश्चात् आचार्य देव के समक्ष जाकर सर्वप्रथम अपने दोषों को बताकर प्रायश्चित्त लेते हैं, जिससे आगामी काल में वे दोष (अतिचार) पुनः न लगें।

यदि वे अपने दोषों को स्वीकार ही नहीं करेंगे, तो उनका प्रायश्चित्त कैसे लेंगे; इसलिए हमें, लौकिक जीवन हो चाहे अलौकिक जीवन - दोनों में आगे बढ़ने के लिए अपने दोषों को स्वीकार करना अत्यावश्यक है।

निदान के सम्पूर्ण स्वरूप को जानने के बाद उससे होने वाली हानियों से बचने के लिए उन हानियों को जानना-पहिचानना बहुत आवश्यक है; अत: अब उससे होने वाली हानियों को देखते हैं -

1) निदान करने में सबसे बड़ी हानि यह है कि हमारे पास जो है, ऐसे अमूल्य वर्तमान समय का आनंद तो ले नहीं पाते और उल्टा जो नहीं है, ऐसे भविष्य काल की कपोल कल्पनाओं में उलझकर अपने वर्तमान एवं भविष्य दोनों को ही बेकार करते हैं।

2) ऐसा करने से यह जीव अपनी बुद्धिमत्ता को खोकर मूर्खों की श्रेणी में जा बैठता है। कहा भी है-

गते शोको न कर्तव्यो,भविष्यं नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन कालेन, वर्तयन्ति विचक्षणाः।।

अर्थात् बीते हुए समय का शोक नहीं करना चाहिए, भविष्य के लिए परेशान नहीं होना चाहिए। बुद्धिमान तो वर्तमान में ही कार्य करते हैं।

3) इस जीव की धृष्टता तो देखो! भौतिकता की चकाचौंध में इतना अंधा हो गया है कि वस्तु स्वरूप को भी ललकारने के लिए तैयार खड़ा है। जैसे-

वस्तु स्वरूप कहता है **कार्य विकल्पों के अनुसार नहीं होता है, भवितव्यता के अनुसार ही होता है;** परंतु यह मोही अपनी मिथ्यामती के कारण कहता है कि भवितव्यता से कुछ नहीं होता है, सब कुछ विकल्पों से ही होता है। तभी तो यह दिन-रात निदान करता रहता है। आगामी काल में विषय-सुख को प्राप्त करने के लिए विकल्प (निदान) करता रहता है।

वस्तु स्वरूप कहता है **सब क्रमबद्ध है। प्रत्येक पर्याय स्व-समय में खचित है।** तेरे चाहने से कुछ नहीं होता है; परंतु यह मोही अपनी मिथ्यामती के कारण कहता है कि कौन कहता है सब नक्की है? देखो! मैंने ऐसा चाहा था और कार्य हो गया। अरे! सब कुछ हमारी इच्छा पर निर्भर करता है।

सार यही है कि इसे वस्तु स्वरूप का दृढ़ श्रद्धान नहीं है, तभी तो दिन-रात वस्तु स्वरूप को चुनौती देने वाले निदान को करता है और निश्चित ही वह अपना अधःपतन करता है।

भगवती आराधना में आचार्य देव कहते भी हैं कि '**जो वस्तु स्वरूप का विचार नहीं करता, उसकी मति निदान में लगती है।**'[1]

1. भगवती आराधना, गाथा-1278

4) निदान करने से यह अपनी वास्तविक योग्यता को ही भूल जाता है। अपनी योग्यता को न पहचानता हुआ भिखारी बन जाता है।

5) **यह निदान सम्यग्दर्शन में अतिचार लगाने वाला है।**[1] यहाँ कोई कहे कि मात्र अतिचार ही लगाता है न, इसका मतलब है कि इसे थोड़ा-बहुत कर सकते हैं? नहीं, भाई! अतिचार से ही अनाचार होता है। यदि अतिचारों का प्रत्याख्यान न किया जाए तो वे अतिचार ही अनाचार में परिवर्तित हो जाएँगे अर्थात् अतिचारों की परंपरा सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाली होती है; इसलिए सम्यग्दर्शन में अतिचार लगाने वाले निदान को किसी भी कीमत पर छोड़ना चाहिए।

6) निदान सम्यक्त्व के नि:कांक्षित गुण का नाश करने वाला है।[2]

7) इस निदान के फल में भवनत्रिक देवों में जन्म होता है। भवनत्रिक में मात्र मिथ्यादृष्टि जीव ही जन्म लेते हैं। त्रिलोकसार ग्रन्थ में कहा भी है-

उम्मगचारि सणिडाणणलादिमुदा अकामणिज्जरिणो।
कुदवा सवलचरित्ता भवणत्तियजंती ते जीव।।450।।

उन्मार्ग का आचरण करने वाले **निदान पूर्वक तप;** अग्नि, जल आदि से मरण, अकाम निर्जरा, पंचाग्नि आदि तप और सदोष चारित्र को करने वाले जीव भवनत्रय में जन्म लेते हैं।

इसका अर्थ यह है कि **निदान करने से तप दूषित होता है, सम्यग्दर्शन का घात होता है** और मिथ्यादृष्टि होकर भवनत्रिक में जन्म लेता है; इसलिए अपने सम्यग्दर्शन की रक्षा करने के लिए किसी भी प्रकार का निदान नहीं करना चाहिए।

1. भगवती आराधना, गाथा-1208 (विशेषार्थ)
2. मूलाचार टीका (आचारवृत्ति), गाथा-250

8) यह निदान इतना खतरनाक है कि यदि मुनिराजों (व्रती) के चित्त में उत्पन्न हो जाए, तो क्षण मात्र में उनके गुणस्थान को गिरा देता है।

9) यह निदान बीमार अवस्था में दवाई खाने की इच्छा के समान है। जैसे - जब कोई रोगी रोग से अत्यधिक पीड़ित होता है, तब वह दवाई खाने की इच्छा करता है। वैसे ही यह अपनी मिथ्या मान्यता के कारण पीड़ित है, इसलिए संयोगरूपी झूठी दवाई को खाने की इच्छा (निदान) करता है अर्थात् निदान करना, इसके दु:खी होने की निशानी है।

10) निदान से होने वाली हानियों को बताते हुए आचार्य शिवार्य कहते हैं कि 'उत्तम चारित्र वाले कदाचित् निदान करते हैं, तो वे दीर्घकाल पर्यंत संसार में परिभ्रमण करते हैं। तब अल्प चारित्र वालों को निदान करने से दीर्घ संसार नहीं होगा क्या? अर्थात् अवश्य होगा।'[1] तब असंयमियों की तो बात ही क्या करनी? अर्थात् उनका तो दीर्घातिदीर्घ संसार ही होगा।

11) 'असंयमी निदान करता है तो वह आत्मिक, अतींद्रिय सुखरूपी करोड़ों की कीमत वाली मणि को एक दमड़ी में बेचने के समान है।'[2] कोहिनूर हीरे को एक पैसे में बेच देने के समान है अथवा एक रुपए की वस्तु को करोड़ों में खरीदने के समान यह निदान है।

12) 'यदि धर्मात्मा जीव निदान करते हैं तो वे -

* रत्नों से भरी नौका को लोहे की एक कील के लिए डुबा देते हैं।
* धागे के लिए मणिमय हार को तोड़ देते हैं।
* राख के लिए चंदन की लकड़ी को जला देते हैं।'[3]

1. भगवती आराधना, गाथा-1214
2. भगवती आराधना, गाथा-1215
3. भगवती आराधना, गाथा-1216

जैसे किसी ग्राहक को कोई वस्तु अतिप्रिय है और वह उस वस्तु की प्राप्ति किसी भी कीमत पर करना चाहता है। ग्राहक की इस अति तीव्र अभिलिप्सा को देखकर दुकानदार उस वस्तु को लागत मूल्य से कई गुने अधिक मूल्य में देता है और आश्चर्य तो तब होता है, जब ग्राहक उस अल्प मूल्य वाली वस्तु को अधिक मूल्य में खरीद लेता है।

वैसे ही यह किसी वस्तु को अति आसक्ति पूर्वक चाहता है। हमारी इस अति आसक्ति को देखकर कर्मरूपी दुकानदार उस वस्तु (विषय-कषाय, भोग-संयोग) को लागत मूल्य से करोड़ों गुने अधिक मूल्य में देता है अर्थात् यह निदान उन संयोगों को लागत पुण्य से कई गुने अधिक पुण्य में देता है। इसप्रकार यह निदानरूपी लुटेरा निरंतर ही लूटता रहता है।

13) सबसे बड़ी हानि यह है कि निदान करने से हमारा आत्मिक सुख नष्ट हो जाता है। आचार्य देव तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में लिखते भी हैं कि **'जिससे आत्म-सुख नष्ट हो जाता है, वह निदान है।'**[1]

14) विशुद्धि के घात पूर्वक ही निदान होता है अर्थात् निदान करने से विशुद्धि का घात होता है।

15) निदान करने से पुण्य क्षीण होता है; इसलिए निदान नहीं करना चाहिए।

प्रश्न :- पुण्य क्षीण हो जाता है। यहाँ पुण्य क्षीण होने से क्या तात्पर्य है; क्योंकि हम जो भी कार्य करते हैं, उनका कर्म उसी समय बँध जाता है। शुभ कार्यों से पुण्य बँधता है, अशुभ कार्यों से पाप बँधता है। साथ ही यह भी निश्चित हो जाता है कि ये सत्ता में कब तक रहेंगे? कब उदय में आएंगे? कितने काल तक और किस अनुभाग शक्ति से

1. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र,अध्याय-9, सूत्र-33

उदय में आएँगे? इसप्रकार जब कर्म की प्रत्येक अवस्था निश्चित है। तब पुण्य क्षीण हो जाता है, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर :- पुण्य के क्षीण होने से तात्पर्य है कि पुण्य का अपकर्षण हो जाना। वह अपकर्षण भी हीन प्रजाति का होता है अर्थात् पहले जो पुण्य का स्तर था। अपकर्ष होने के पश्चात् उसका स्तर हीन हो जाता है। इसे ही पुण्य का क्षीण होना कहा जाता है।

जैसे - पहले 1 रुपया, 1 डॉलर के बराबर था; परंतु समय के साथ रुपए की कीमत घटती गई और अब लगभग 81 रुपये 1 डॉलर के बराबर होते हैं।

वैसे ही निदान करने के पूर्व जो एक पुण्य में एक पेंसिल मिलती थी। निदान करने के पश्चात् वही पेंसिल 100 पुण्यों में मिलेगी अर्थात् निदान करने के बाद पुण्य का स्तर हीन हो जाता है; इसे ही पुण्य का क्षीण होना कहा जाता है।

अधिक पुण्य की अपेक्षा हीन पुण्य को पाप भी कह सकते हैं। इस अपेक्षा पुण्य का पाप में संक्रमण हो जाना ही पुण्य का क्षीण होना है।

प्रश्न :- निदान करने से एक समय के पुण्य का ही अपकर्षण होता होगा? अन्य समयों का तो सुरक्षित रहता होगा; इसलिए निदान करने में अधिक हानि नहीं है।

उत्तर :- नहीं भाई! ऐसा नहीं है। यह अपकर्षण अनेक समयों में बाँधे हुए पुण्य का होता है। यह तो हमारे परिणामों पर निर्भर करता है कि कितने समयों का और कितनी मात्रा वाला पुण्य अपकर्षित होगा। यदि निदान परिणाम तीव्र होंगे तो अधिक समयों का बँधा हुआ और अधिक मात्रा वाला पुण्य अपकर्षित होगा और यदि निदान

परिणाम तीव्र नहीं होंगे तो उसके अनुसार पुण्य अपकर्षित होगा। इसे स्पष्टरूप से तो केवली ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं।

यहाँ **कोई कहे** कि पुण्य के क्षीण होने का अर्थ – पुण्य की निर्जरा होना है।

समाधान :–ऐसा नहीं है; क्योंकि निदान संसार का कारण है और निर्जरा मोक्ष का कारण है। संसार के कारण से मोक्ष का कारण नहीं हो सकता है; इसलिए निदान से निर्जरा नहीं हो सकती है। निदान पूर्वक पुण्य की क्षीणता संसार का कारण होने से निर्जरारूप नहीं है। वह तो पुण्य का पाप में संक्रमित होने रूप है।

यहाँ कोई स्वच्छंद प्राणी कहे कि पुण्य तो जड़ कर्म है। वह निर्जरित हो या पापरूप संक्रमित हो। उससे हमें क्या? मैं तो उनसे भिन्न अखण्ड निराला जीव द्रव्य हूँ।

जब कर्मों का मेरे साथ कोई संबंध ही नहीं है, तब वे मेरा क्या कर सकते हैं? मैं उनकी चिंता क्यों करूँ? जो हो रहा है होने दो...। एक न एक दिन तो उदय में आकर खिरने ही थे। बस इतना ही अंतर पड़ा कि कल की जगह आज उदय में आकर खिर जाएँगे; इसलिए जी भरके अभिलाषा, इच्छा, निदान करो और मजे में रहो।

अरे भाई! पहली बात तो यह कि इच्छा में मजा नहीं है, वह तो दवाई के समान दुःख की निशानी है और दूसरी बात यह है कि तेरी यह स्वच्छंद प्रवृत्ति तुझे नरक-निगोद में ले जाने वाली है। वहाँ डण्डे खाते हुए जितना मजा चाहिए हो, उतना ले लेना।

यहाँ तो दिन-रात पर पदार्थों (विषय-भोगों) की अभिलाषा करता है, उनको प्राप्त करने का भरसक प्रयास करता है और कर्मों की

चर्चा आई तो कहता है कि ये पर, जड़ पदार्थ हैं, मेरा क्या करेंगे? वे विषय-भोग तो तेरा कुछ नहीं कर सकते हैं; परंतु ये कर्म अनंत संसार में रखड़वाने की सामर्थ्य रखते हैं; क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बहुत घने है; इसलिए समय रहते चेत जा।

जिज्ञासा :– आपकी बात मान भी लेते हैं कि कर्म प्रबल निमित्त हैं, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; परंतु निदान करने से पुण्य उसी का क्षीण होगा जिसके पास होगा; जिसके पास पुण्य होगा ही नहीं, उसका क्षीण क्या होगा? इसलिए डरने की आवश्यकता पुण्यात्मा जीवों को है, पापात्मा को नहीं। पापात्मा जीव तो मन भरकर निदान कर सकता है; क्योंकि उसके पास पुण्य है ही नहीं, तो क्षीण कहाँ-से होगा?

समाधान :– पुण्यात्मा जीव हो या पापात्मा – दोनों के पास सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता है। सम्यग्दर्शन सहित पुण्यात्मा हो या पापात्मा – निदान करने से दोनों के ही सम्यग्दर्शन में अतिचार लगेंगे और अतिचारों की शृंखला ही जीव को सम्यग्दर्शन से च्युत करके मिथ्यात्व तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखती है।

इसलिए पुण्यात्मा और पापात्मा – दोनों को ही निदान छोड़ने योग्य है।

पुण्य से रहित कोई भी जीव नहीं होता है। निगोदिया जीव भी प्रति समय पुण्य का बंध करता है। उसके पास भी पुण्य होता है।

पुण्यात्मा का अर्थ यह नहीं कि उसके पास पाप हो ही नहीं और पापात्मा का अर्थ यह नहीं कि उसके पास पुण्य हो ही नहीं; अपितु दोनों के पास पुण्य-पाप दोनों होते हैं। जिसके पास पुण्य की अधिकता होती है, उसे पुण्यात्मा, पुण्यवान् कहते हैं और जिसके पास

पाप की अधिकता होती है, उसे पापात्मा, पापी कहते हैं। वास्तव में दोनों के पास हीनाधिक मात्रा में पुण्य-पाप दोनों होते हैं।

प्रत्येक जीव प्रतिपल एक ही परिणाम से एक ही समय में पुण्य-पाप दोनों का बंधन करता है। वास्तव में पुण्य-पाप कुछ नहीं हैं। कर्मों में पुण्य-पाप कर्म पृथक् से नहीं हैं; तथापि कर्मों की 148 प्रकृतियाँ प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की हैं। प्रशस्त को पुण्य और अप्रशस्त को पाप कहते हैं; इसलिए सामान्यरूप से पुण्य-पाप कर्मों का बंध होता है - ऐसा कहा जाता है।

प्रश्न :- इन पुण्य-पाप कर्मों का बंध (प्रशस्त-अप्रशस्त कर्म प्रकृतियों का) प्रतिपल एक ही परिणाम से एक ही समय में कैसे होता है?

उत्तर :- ध्रुव बंधी प्रकृतियों की अपेक्षा एक ही परिणाम से एक ही समय में पुण्य-पाप दोनों का बन्ध होता है।

अनादि काल से अपनी बंध-व्युच्छित्ती के काल तक (गुणस्थानानुसार) प्रति समय बंधने वाली प्रकृतियाँ **ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ** होती हैं।

ध्रुव बंधी और निरंतर बंधी - दोनों अलग-अलग हैं। ध्रुव बंधी अनादि काल से प्रत्येक जीव को प्रति समय बंधती हैं; परंतु निरंतर बंधी अनादि काल से नहीं बँधती हैं, जब से बंधना शुरू होती हैं, तब से लेकर बंध-व्युच्छित्ती के काल पर्यंत जो निरंतर बँधती हैं, उन्हें निरंतर बंधी प्रकृति कहते हैं। जैसे - तीर्थंकर प्रकृति। यहाँ ध्रुव बंधी प्रकृतियों की चर्चा है।

68 पुण्य प्रकृतियों में से 24 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं और 100 पाप प्रकृतियों में से 59 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार 168 कर्म प्रकृतियों में से भेद विवक्षा से कुल 83 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं और

अभेद विवक्षा से 47 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं। (विशेष जानने के लिए देखें - परिशिष्ट-1)

ये 83 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ सदैव बँधती हैं; परंतु इनमें स्थिति-अनुभाग परिणामानुसार हीनाधिक होते रहते हैं। निगोद से लेकर संज्ञी पर्यंत प्रत्येक जीव को अपने गुणस्थानानुसार अनादि काल से ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ बंधती रहती हैं, इनमें कुछ पुण्यरूप हैं और कुछ पापरूप हैं।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक जीव को प्रति समय पुण्य-पाप दोनों का बंध होता है; कोई भी पुण्य-पाप से रहित नहीं है; इसलिए हमें अपने कुतर्कों को छोड़ देना चाहिए कि हम पापात्मा हैं, हमारे पास पुण्य है ही नहीं, तो हम निदान कर सकते हैं इत्यादि।

जिज्ञासा :- निदान करने से सम्यग्दृष्टि जीव डरें; क्योंकि वे ही संसार-समुद्र से पार होने का प्रयत्न कर रहे हैं। मिथ्यादृष्टि तो वैसे ही संसार-समुद्र में गोते खा रहे हैं और निदान करके भी वही काम करना है; इसलिए मिथ्यादृष्टि तो निश्चिंत होकर निदान कर सकते हैं?

समाधान :- नहीं! भले ही अभी सम्यग्दृष्टि न हो; किन्तु आगामी काल में वस्तु स्वरूप का सच्चा श्रद्धान कर सम्यग्दृष्टि हो सकता है। यदि अभी निदान में रचा-पचा रहेगा, तो आगामी काल में भी सम्यग्दृष्टि होने की संभावना खो देगा; इसलिए हमें अपने सभी कुतर्कों को छोड़कर इस निदान को छोड़ने का हर संभव प्रयास करना चाहिए।

इसप्रकार निदान से होने वाली हानियों को विविध आगम उल्लेखों सहित अनेक तर्क-युक्तियों के माध्यम से जाना।

******

निदान के स्वरूप को जानने से लाभ

✻ अनादि की भूल का ज्ञान होता है। उस भयानक दोष का पता चलता है, जिसे लम्बे समय से प्रतिपल करते आ रहे हैं; परंतु जानते नहीं थे और दोषों को जाने बिना उनका त्याग संभव नहीं है; इसलिए **उनका ज्ञान होना ही सबसे बड़ा लाभ है।**

✻ सच्चा ज्ञान वही है, जिसके होने पर हित की प्राप्ति और अहित का परिहार हो।[1] इसका वास्तविक ज्ञान तभी कहलाएगा जब इस अनर्थकारी, अनेक आपदाओं के समूहरूप निदान को छोड़ने के लिए कटिबद्ध होंगे।

✻ यदि जानने के बाद भी छोड़ने के लिए कटिबद्ध नहीं होते हैं, तो समझना कि अभी तक हमने निदान का स्वरूप समझा ही नहीं है।

✻ इस निदान के स्वरूप को जानने से उससे होने वाली हानियों से बचा जा सकता है।

✻ वस्तु-स्वरूप के निर्णय करने में मति लगती है।

✻ आत्म-सुख नष्ट नहीं होता है।

✻ अमूल्य वर्तमान समय का पूरा सदुपयोग होता है।

✻ भविष्य की चिंता आकुलता-व्याकुलता नहीं सताती है।

✻ कषायें अत्यंत मंद होती हैं।

✻ किसी भी वस्तु, क्रिया एवं भाव में अति-आसक्ति नहीं होती है।

✻ सम्यग्दर्शन की पूर्व भूमिका का निर्माण होता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पश्चात् निरतिचार पालन होता है।

1. परीक्षामुख, परिच्छेद-1, सूत्र-2(हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्)

इसतरह अनेक प्रकार के लाभ इस निदान के स्वरूप को जानने से होते हैं।

यदि किसी की बनिया बुद्धि है तो वह कदापि निदान नहीं कर सकता है। किसी कवि ने कहा भी है-

बनिया हो तो वह निदान के चक्कर में नहीं पड़ता है।
बहु निवेश कर अल्प लाभ हो ये कैसी चातुरता है।।[1]

सुभाषित संग्रह समुच्चय में लिखते हैं-

निदानहीनं च सदैव दानं, देयं यतिभ्यो दुरितक्षयाय।
निदानकर्त्ता तु कपर्दकेन, स्वर्णस्य कोटिं विजहाति मूढः।।64।।

अर्थात् यतियों को सदैव कर्मों का क्षय करने के लिए निदान रहित दान देना चाहिए। जो निदान बाँधकर दान देता है, वह मूर्ख ऐसा है कि मानो एक कोड़ी के लिए स्वर्ण के ढेर को छोड़ देता है।

हमें कार्य करते हुए उसके फल का ज्ञान अवश्य होना चाहिए; परंतु ऐसी भावना नहीं करनी चाहिए कि इसका यह फल मुझे मिले। हमें मात्र अपने योग्य कर्तव्य को करना चाहिए। उससे किसी भी प्रकार के विशिष्ट फल की वांछा नहीं करनी चाहिए।

जो कार्य कर रहे हैं, उसके फल में क्या मिलेगा? इसका ज्ञान होना तो आवश्यक है; परंतु उस कार्य को करते हुए किसी विशिष्ट फल प्राप्ति की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

इसप्रकार हम सभी निदान भावों को छोड़कर अपने कर्तव्यों का योग्य रीति से परिपालन करके सुख-शान्ति से जीवन-यापन करते हुए अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करें - इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

✻✻✻✻✻✻

1. कवि समकित जैन शास्त्री, ईसागढ़

परिशिष्ट – 1

ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ

आठों कर्मों की 168 उत्तर प्रकृतियों में से ध्रुव बंधी प्रकृतियों के नाम निम्न चार्ट के माध्यम से समझते हैं –

निम्न चार्ट में 8 कर्मों की 168 उत्तर प्रकृतियाँ बताई हैं। यद्यपि अभी तक आपने 148 प्रकृतियाँ सुनी होंगी; परंतु यहाँ भेद विवक्षा से 168 प्रकृतियाँ बताई हैं।

इन 168 प्रकृतियों में से उदय की अपेक्षा भेद विवक्षा से 68 प्रकृतियाँ – पुण्यरूप (प्रशस्त) हैं और 100 प्रकृतियाँ – पापरूप (अप्रशस्त) हैं।

चार्ट में जिन प्रकृतियों को रेखांकित (Underline) किया है, वे ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं।

68 पुण्य प्रकृतियों में से 24 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं और 100 पाप प्रकृतियों में से 59 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार 168 कर्म प्रकृतियों में से भेद विवक्षा से कुल 83 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं और अभेद विवक्षा से 47 ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ हैं।

घातिया कर्म

घातिया कर्म (47)	पुण्य प्रकृति (68)	पाप प्रकृति (47)	ध्रुवबंधी प्रकृति (38) 0+38
ज्ञानावरणीय(5)	0	मति/श्रुत/अवधि/मन:पर्याय/केवल(5)	0+5
दर्शनावरणीय(9)	0	चक्षु/अचक्षु/अवधि/केवल/5निद्रा(9)	0+9
मोहनीय(28)	0	3 द.मो. – मि. / स. मि / स. 25 चा.मो. – 16 कषाय 9 नो कषाय (भय, जुगुप्सा, शेष7)(19)	0+19
अंतराय(5)	0	दान/लाभ/भोग/उपभोग/वीय(5)	0+5

अघातिया कर्म

अघाति कर्म (101/121)	पुण्य प्रकृति (68)	पाप प्रकृति (53)	ध्रुवबंधी प्रकृति (45) पुण्य+पाप
वेदनीय (2)	साता (0)	असाता (0)	0+0
आयु (4)	मनु./देव./ति. आयु (0)	नरक आयु (0)	0+0
नाम (93/113)	63– मनु.गति–गत्यानुपूर्वी, दे. गति–गत्यानु. पंचेन्द्रिय जाति, 5 शरीर (*कार्मण /तैजस*), 5 बंधन, 5 संघात, 3 अंगोपांग, *20 शुभ वर्णादि*, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, *अगुरूलघु*, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, बादर, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यश:कीर्ति, *निर्माण*, तीर्थंकर (24)	50 – न.गति–गत्यानु, तिर्यंचगति–गत्यानुपूर्वी, 1–4 इन्द्रिय जाति, 5 संस्थान, 5 संहनन, *20 अशुभ वर्णादि*, *उपघात*, अप्रशस्त विहायोगति, साधारण, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयश:कीर्ति (21)	24+21
गोत्र (2)	उच्च (0)	नीच (0)	0+0

घातिया–अघातिया कर्मों और पुण्य–पाप कर्मों की अपेक्षा ध्रुवबंधी प्रकृतियों की संख्या निम्नप्रकार से है:–

कर्म(148/168)	पुण्य प्रकृति(68)	पाप प्रकृति(100)	ध्रुवबंधी प्रकृति
घातिया(47)	0	38	38
अघातिया(101/121)	24	21	45
कुल	24	59	**83**

संदर्भित ग्रन्थ

1) **शब्दकोश :** वामन शिवराम आप्टे; कमल प्रकाशन, नई दिल्ली
2) **अमितगति श्रावकाचार :** आ. अमितगति देव; भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्।
3) **अष्टपाहुड (शीलपाहुड) :** आ. कुन्द-कुन्द देव; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
4) **आत्मानुशासन :** आ. गुणभद्र देव; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
5) **आदिपुराण :** आ. जिनसेन स्वामी (प्रथम); भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
6) **आराधना कथा काश :** श्री उदयलाल जैन कासलीवाल, भारतीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्।
7) **गोम्मटसार जीवकाण्ड :** आ. नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती देव; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।
8) **गोम्मटसार कर्मकाण्ड :** आ. नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती देव; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।
9) **गोम्मटसार टीका (जीवतत्त्व प्रदीपिका) :** केशववर्णीजी; श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास।
10) **छहढ़ाला :** प. दौलतरामजी; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
11) **ज्ञानार्णव :** आ. शुभचंद्र देव; जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
12) **जैनेन्द्र सिद्धांत कोश :** जैनेन्द्र वर्णीजी; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
13) **तत्त्वार्थसूत्र :** आ. उमास्वमी देव; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
14) **टोडरमल महाविद्यालय E - पत्रिका :** सम्पादक - डॉ. शान्तिकुमार पाटील; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।

15) **तत्त्वार्थ अधिगम सूत्र :** आचार्य श्री उमास्वाति; श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास।
16) **तत्त्वार्थ राजवार्तिक :** आ. भट्ट अकलंक देव; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
17) **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक :** आ. विद्यानंद स्वामी; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
18) **दर्शनशास्त्र का परिचय :** शंकर प्रसाद शुक्ल; यूनिक ट्रेडर्स, जयपुर।
19) **धवला :** आ. वीरसेन स्वामी; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।
20) **परीक्षा मुख :** आ.माणिक्यनंदी; आर्यन प्रिन्टर्स, जाहगीरावाद, भोपाल।
21) **पद्मपुराण :** आ. रविषेण देव; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
22) **पंडित रत्नचंद्र जैन व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व :** पं. जवाहरलाल जैन ग्रन्थ माला; ब्र. लाडमल जैन आचार्य श्री शिवसागर दि. जैन ग्रंथमाला, श्री महावीरजी।
23) **बोधि समाधि निधान :** संपादक-देवेन्द्र कुमार जैन; श्री सूरजबेन अमुलखभाई सेठ स्मृति द्रस्ट, मुंबई।
24) **मूलाचार :** आ. वट्टकेर स्वामी; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
25) **मूलाचार की टीका आचारवृत्ति :** आ. वसुनंदी देव; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
26) **त्रिलोकसार :** आ. नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती; ब्र. लाडमल जैन आचार्य श्री शिवसागर दि. जैन ग्रंथमाला, श्री महावीरजी।
27) **भगवती आराधना :** आ. शिवार्य; जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
28) **भगवती आराधना की विजयोदया टीका :** आ. अपाजित सूरि; जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
29) **मोक्षमार्ग प्रकाशक :** आचार्य कल्प पंडित टोडरमलजी; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
30) **योगसार :** आ. योगीन्दु देव; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।

31) **समयसार :** आ. कुन्द-कुन्द देव; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
32) **समयसार (आत्मख्याति टीका) :** आ. अमृतचन्द्र देव; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
33) **समयसार (ज्ञायकभाव प्रबोधिनी टीका) :** डॉ. हुकमचंद भारिल्ल; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
34) **समवशरण रचना वर्णन :** शोध संकलक - पण्डित अमन जैन शास्त्री; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
35) **सिद्धांतसार संग्रह :** आ. नरेन्द्रसेन देव; जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर।
36) **सुभाषित सार संग्रह**
37) **सुरसुंदरी :** पं. काशीनाथ जैन; बृहद गच्छीय श्री पूज्य जैनाचार्य श्री चन्द्रसिंह सूरि।
38) **हरिवंशपुराण :** आ. जिनसेन स्वामी (द्वितीय); भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

उद्धरणों की आवश्यकता

* लेखक एवं उसके द्वारा लिखे गए आलेख, निबन्धादि की प्रामाणिकता, दिए गए प्रामाणिक उद्धरणों से ही होती है।
* उद्धरणों से शोधार्थी के वैचारिक ऊहापोह को आधार मिल जाने पर उसे अत्यन्त प्रसन्नता एवं संतोष होता है।
* उद्धरणों को देने से प्रामाणिकता सम्बन्धी सन्देह दूर हो जाता है; जिसके कारण पाठकगण निःसन्देह होकर विषय-वस्तु को समझने में अधिक उत्साह दिखाते हैं।
* पाठकों को सही दिशा-निर्देश एवं उनके विचारों को गति प्रदान करने के लिए उद्धरणों का देना अत्यन्त आवश्यक है।

विद्वानों के अभिमत

● डॉ. संजीवकुमारजी गोधा, जयपुर

'**निदान का स्वरूप**' विषय पर पण्डित अमन जैन शास्त्री द्वारा लिखित पुस्तक को उनके साथ बैठकर अद्योपांत पढ़ा। निदान के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली यह अपने आप में एक अलग ही पुस्तक है। पूर्व में इस तरह के विषय पर कोई और पुस्तक आज तक देखने को नहीं मिली।

भाई अमन द्वारा इस पुस्तक में निदान के स्वरूप को अनेक पहलुओं से आगम प्रमाणों पूर्वक बहुत ही सुंदर ढंग से अनेक प्रकार के तर्क देते हुए प्रस्तुत किया है, जो बहुत अनुकरणीय है। पूर्व में भी इनके माध्यम से समवशरण विषय पर पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

आप उभरते हुए लेखक के रूप में आगे बढ़ रहे हैं और हम उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं कि आपकी लेखनी अनछुए पहलुओं को उजागर करते हुए जिनवाणी माँ की सेवा में संलग्न रहे। मंगलमय शुभकामनाओं सहित...

● बा.ब्र. आ. कल्पना दीदी, जयपुर

जिनशासन में ज्ञान किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य वट्टकेर स्वामी आचारांग के वर्तमान प्रतिनिधि ग्रंथ श्रीमूलाचारजी में लिखते हैं-

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है, जिन-शासन में वह ज्ञान है।।267।।

जीव जिससे राग से विरक्त होता है, जिससे मोक्ष में राग करता है, जिससे द्वेष के अभावरूप मैत्री को भावित करता है, जिन-शासन में वह ज्ञान है।।268।।

सर्वांग हितकर, परम-पवित्र इस ज्ञान के विरोधी हैं - निदान शल्य, निदान बन्ध और निदान आर्तध्यानरूप तीव्र भोगाकांक्षामय बहिर्मुखी भाव।

इन्हें आगम के आलोक में सांगोपांग विवेचन पूर्वक एकत्र उपस्थित करने की महती आवश्यकता थी। सद्धर्मानुरागी भाई श्री अमनजी शास्त्री (लोनी) ने स्वरुचि से स्वांत: सुखाय आगम का यथा-शक्ति आलोड़न कर इसकी पूर्ति की - एतदर्थ वे साधुवादार्ह हैं।

आप अपने जीवन के अनमोल क्षणों को इसीप्रकार जिनवाणी माता की शरण से विशुद्धता से भी आगे बड़ शुद्धता सेह्नशृंगारित करें, निराकुल सुख-शान्तिमय अव्याबाधमय आनंद का भोगोपभोग करें - यही मंगल भावना है।

सभी इस कृति का गंभीरता पूर्वक स्वाध्यायादि कर अपना सज्जीवन प्रशस्त करें - इन्हीं भावनाओं के साथ ...

● डॉ. अरुणजी बण्ड, जयपुर

'**निदान**' नामक यह कृति निदान के सर्वांगीण विवेचन करने वाली कृति है। इसमें निदान क्या आर्त्तध्यान ही होता है या कुछ और भी है। आर्त्तध्यान है तो अशुभ या अप्रशस्त ही होगा? इसप्रकार की उत्पन्न होने वाली जिज्ञासाओं का समाधान किया है।

निदान प्रशस्त भी हो सकता है, होता है? यह कृति के अध्ययन से ज्ञात हो जाएगा। कोई भी तथ्य निराधार नहीं है। सबके प्रमाण तथा उस विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

'निदानञ्च' तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र से हम सब परिचित हैं। उससे हमें सिर्फ इतना ही ज्ञात होता था कि निदान नाम का एक आर्त्तध्यान है, जो छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के भी होता है; परंतु यह प्रशस्त प्रकार का होता है। जो प्रशस्त (मोक्ष का कारणभूत) प्रकार का निदान है, वह आर्त्तध्यानरूप नहीं है, ऐसा विशेष स्पष्टीकरण इस कृति

में किया गया हैं।

यह कृति सुंदर विषयवाली, अध्ययन-योग्य, ज्ञानवर्धन करनेवाली है। इसका स्वाध्याय अवश्य करें।

● डॉ. प्रवीणकुमारजी शास्त्री

प्राचार्य - आ. अकलंक देव जैन न्याय महा., बांसवाड़ा

पंडित अमन जैन शास्त्री उभरते हुए लेखक के रूप में निखर रहे हैं। यह मुमुक्षु समाज के लिए गौरव का विषय है। इनकी यह द्वितीय कृति 'निदान का स्वरूप' देखने को मिली। जो कि प्रमाणिक व अत्यंत सराहनीय है। इसमें आगम प्रमाण के साथ तर्क-युक्ति पूर्ण जो खुलासा हुआ है, वह पाठकों के द्वारा पठनीय है तथा जीवन के प्रत्येक क्षण में अपने परिणामों को सावधान करने के लिए उपयोगी है।

सभी पाठक इसका अवश्य अध्ययन करें - ऐसी मंगल भावना है...।

● पण्डित धर्मेन्द्रजी शास्त्री

प्राचार्य - आ. धरसेन दिगम्बर जैन सिद्धांत महा., कोटा

'**निदान का स्वरूप**' पण्डित अमन शास्त्री, दिल्ली द्वारा लिखित यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। जिसका अध्ययन प्रत्येक आत्मार्थी स्वाध्यायी व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए।

इसमें निदान का सांगोपांग वर्णन करने का प्रयास किया गया है। जिसमें निदान का स्वरूप, निदान शब्द का शाब्दिक, व्युत्पत्ति और दार्शनिकता के आधार पर बहुत अच्छा अर्थ किया गया है, साथ ही विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखित ग्रंथों में निदान के बारे में जो उल्लेख और विवेचनाएँ हैं, उन्हें बहुत अच्छे ढंग से संयोजित की है। पुस्तक में इच्छा और निदान तथा संकल्प और निदान में जो अंतर स्पष्ट किया है, वह बिल्कुल नवीन प्रमेय है। साथ ही प्रशस्त और अप्रशस्त निदान की व्याख्या अत्यंत स्पष्ट एवं शोधपूर्ण हैं। अंत में निदान की हानि वाला

प्रकरण सभी को पुनः-पुनः पठनीय है।

इस प्रकार यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी और संग्रहणीय है। भाई अमन शास्त्री इसीप्रकार साहित्य-सृजन कर जिनवाणी की सेवा करें - यही मंगल कामना है।

● **पण्डित पीयूषजी शास्त्री, जयपुर**

प्रबंधक - श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

उदीयमान विद्वान अमनजी की यह दूसरी पुस्तक प्रकाशित होने जा रही है। जिन विषयों की चर्चा कम होती है, उन विषयों पर सम्पूर्ण शोधपूर्ण प्रमाणिक लेखन कला इनको विशिष्ट लेखकों की श्रेणी में स्थापित करती है।

समोशरण रचना वर्णन के समान ही 'निदान का स्वरूप' नामक पुस्तक भी धैर्यपूर्वक किए गए अथक परिश्रम का परिणाम है। सामान्यतः जिन विषयों पर अधिक चर्चा नहीं हो पाती, ऐसे विषयों पर प्रामाणिक जानकारी पाठकों को पढ़ने मिलेगी।

सभी को एक बार अवश्य इसका स्वाध्याय करना चाहिए।

अमनजी की लेखनी इसीप्रकार जिनागम के महासागर में मोती चुन-चुनकर देती रहेगी - ऐसी मंगल भावना के साथ...

● **डॉ. ज्योतिजी सेठी, जयपुर**

प्रस्तुत कृति में पंडित अमनजी शास्त्री ने '**निदान**' के संबंध में अत्यंत शोध-पूर्ण विवेचन किया है। निदान के संबंध में अनेक शास्त्रों को शोधकर संपूर्ण विषय को एक ही स्थान पर अत्यंत रोचक ढंग से रखने का सफल प्रयास किया है, जो अत्यंत प्रशंसनीय है।

विषय को पढ़ते समय जो जिज्ञासाएँ मन में उत्पन्न होती हैं, आपने स्वयं ही प्रश्नोत्तरों के माध्यम से उनका तर्कपूर्ण एवं आगम-सम्मत समाधान भी प्रस्तुत किया है। निदान के वास्तविक स्वरूप से समाज को परिचित कराने में यह कृति अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी।

******